हिंदी भाषा और लिपि

धीरेंद्र वर्मा

एम्-ए० (इलाहाबाद) डी० लिट० (पेरिस)

अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

१९३९

हिंदुस्तानी एकेडेमी

(संयुक्त प्रांत)

इलाहाबाद

प्रकाशक—
हिंदुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

तृतीय संस्करण
मूल्य आठ आने

मुद्रक—
गुरुप्रसाद,
मैनेजर, कायस्थ पाठशाला प्रेस व प्रिंटिंग स्कूल, प्रयाग

हिंदी भाषा और लिपि

वक्तव्य

मेरा लिखा 'हिंदी भाषा का इतिहास' शीर्षक ग्रंथ हिंदुस्तानी ऐकेडेमी द्वारा १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत पुस्तक उपर्युक्त ग्रंथ की भूमिका थी जिस को विद्यार्थियों तथा हिंदी-प्रेमियों के हित की दृष्टि से ऐकेडेमी ने स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित करना उचित समझा था। इस के प्रथम संस्करण के समाप्त हो जाने पर यह संशोधित तृतीय संस्करण सर्वसाधारण के समक्ष उपस्थित है।

छोटे-छोटे अनेक परिवर्तनों के अतिरिक्त प्रस्तुत संस्करण में प्रारंभ में हिंदी भाषा-संबंधी प्रदेश का एक मानचित्र तथा अंत में देवनागरी लिपि और अंक संबंधी दो चित्र बढ़ा दिए गए हैं। विश्वास है इन से विषय को सुचारु रूप से समझने में विशेष सहायता मिल सकेगी। लिपि तथा अंक संबंधी चित्र महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी की सुप्रसिद्ध कृति 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' से लिये गये हैं। इन के उद्धृत करने की अनुमति देने के लिये मैं ओझा जी का आभारी हूँ।

धीरेंद्र वर्मा

हिंदी विभाग,
विश्व-विद्यालय, प्रयाग।

विषय-सूची

मानचित्र और चित्र

———

१ संसार की भाषाएं और हिंदी

क. संसार की भाषाओं का वर्गीकरण[१]

वंशक्रम के अनुसार भाषातत्वविज्ञ संसार की भाषाओं को कुलों, उपकुलों, शाखाओं, उपशाखाओं तथा समुदायों में विभक्त करते हैं।[२] हिंदी भाषा का संसार में कहाँ स्थान है यह समझने के लिए इन विभागों का संक्षिप्त वर्णन देना आवश्यक है। उन समस्त भाषाओं की गणना एक कुल में की जाती है जिनके संबंध में यह प्रमाणित हो चुका है कि ये सब किसी एक मूलभाषा से उत्पन्न हुई हैं। नए प्रमाण मिलने पर इस वर्गीकरण में परिवर्तन संभव है। अब तक की खोज के आधार पर संसार की भाषाएं निम्नलिखित मुख्य कुलों में विभक्त की गई हैं :—

१—भारत-यूरोपीय कुल— हमारे दृष्टिकोण से इसका स्थान सब से प्रथम है। कुछ विद्वान इस कुल को आर्य, भारत-जर्मनिक अथवा जफ़ेटिक[३] नामों से भी पुकारते हैं। इस कुल की भाषाएं उत्तर

---

[१] इ० ब्रि० (११ वां संस्करण), 'फ़िलॉलोजी' शीर्षक लेख, भाग २१, पृ० ४२६ इ०।

[२] भाषा क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई, आदि में मनुष्य मात्र की क्या कोई एक मूल भाषा थी इत्यादि प्रश्न भाषाविज्ञान के विषय से संबंध रखते हैं अतः प्रस्तुत विषय के क्षेत्र से ये पूर्ण-रूप से बाहर हैं।

[३] जफ़ेटिक नाम बाइबिल के अनुसार मनुष्य-जाति के वर्गीकरण के आधार पर दिया गया था। जफ़ेटिक के अतिरिक्त मनुष्य जाति के

भारत, अफ़गानिस्तान, ईरान तथा प्रायः संपूर्ण यूरोप में बोली जाती हैं। संस्कृत, पाली, ज़ेंद, पुरानी फ़ारसी, ग्रीक, लैटिन इत्यादि प्राचीन

दो अन्य विभाग सेमिटिक तथा हैमिटिक के नाम से बाइबिल में किए गए हैं। इन में से भी प्रत्येक के नाम पर एक-एक भाषाकुल का नाम पड़ा है। मनुष्य-जाति के इस वर्गीकरण के शास्त्रीय होने में संदेह होने पर जफ़ेटिक नाम छोड़ दिया गया, यद्यपि शेष दो नाम अब भी प्रचलित हैं। भारत-जर्मनिक से तात्पर्य उन भाषाओं से लिया जाता था जो पूर्व में भारत से लेकर पश्चिम में जर्मनी तक बोली जाती हैं। बाद को जब यह मालूम हुआ कि जर्मनी के और भी पश्चिम में आयर्लैण्ड की केल्टिक भाषा भी इसी कुल की है, तब यह नाम भी अनुपयुक्त समझा गया। आरंभ में भाषाशास्त्र में जर्मन विद्वानों ने अधिक कार्य किया था और यह नाम भी उन्हीं का दिया हुआ था। जर्मनी में अब भी इस कुल का यही नाम प्रचलित है। आर्य-कुल नाम सरल तथा उपयुक्त था, किंतु एक तो इससे यह भ्रम होता था कि आर्य-कुल की भाषाएं बोलनेवाले सब लोग आर्य-जाति के होंगे, जो सत्य नहीं है, इसके अतिरिक्त ईरानी तथा भारतीय उपशाखाओं का संयुक्त नाम आर्य-उपकुल पड़ चुका था, अतः यह सरल नाम छोड़ देना पड़ा। भारत-यूरोपीय नाम भी बहुत उपयुक्त नहीं है। इस नाम के अनुसार भारत और यूरोप में बोली जाने वाली सभी भाषाओं की गणना इस कुल में होनी चाहिए। किंतु भारत में ही द्राविड़ इत्यादि दूसरे कुलों की भाषाएं भी बोली जाती हैं। इस नाम में दूसरी त्रुटि यह है कि भारत और यूरोप के बाहर बोली जानेवाली ईरानी भाषा की उपशाखा का उल्लेख इस में नहीं हो पाता। इन त्रुटियों के रहते हुए भी इस कुल का यही नाम प्रचलित हो गया है। अंग्रेज़ी तथा फ़्रांसीसी विद्वान इस कुल को भारत-यूरोपीय नाम से ही पुकारते हैं।

भाषाएं इसी कुल की थीं। आजकल इस कुल में अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मन, नई फ़ारसी, पश्तो, हिंदी, मराठी, बंगला तथा गुजराती आदि भाषाएं हैं।

२. सेमिटिक कुल—प्राचीन काल की कुछ प्रसिद्ध सभ्यताओं के केंद्रों में—जैसे फोनेशिया, आरमीय तथा असीरिया में—लोगों की भाषाएं इसी कुल की थीं। इन प्राचीन भाषाओं के नमूने अब केवल शिला-लेखों इत्यादि में मिलते हैं। यहूदियों की प्राचीन हिब्रू भाषा जिस में मूल बाइबिल लिखी गई थी और प्राचीन अरबी भाषा जिस में क़ुरान है, इसी कुल की है। आजकल इस कुल की उत्तराधिकारिणी वर्तमान अरबी तथा हबशी भाषाएं हैं।

३. हैमिटिक कुल—इस कुल की भाषाएं उत्तर अफ़्रीका में बोली जाती हैं जिनमें मिश्र देश की प्राचीन भाषा काप्टिक मुख्य है। प्राचीन काप्टिक के नमूने चित्र-लिपि में खुदे हुए मिलते हैं। उत्तर अफ़्रीका के समुद्रतट के कुछ भाग में प्रचलित लीबियन या बर्बर, पूर्व भाग के कुछ अंश में बोली जानेवाली एथिओपियन तथा सहारा मरुभूमि की हौसा भाषा इसी कुल में है। अरब के मुसलमानों के प्रभाव के कारण मिश्र देश की वर्तमान भाषा अब अरबी हो गई है। कुछ समय पूर्व मूल मिस्री-भाषा काप्टिक के नाम से जीवित थी। मिस्र देश के मूल-निवासी, जो काप्टिक नाम से ही प्रसिद्ध हैं, अपनी भाषा के उद्धार का प्रयत्न कर रहे हैं।

४. तिब्बती चीनी कुल—इस कुल का बौद्ध-कुल नाम देना अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि जापान को छोड़ कर शेष समस्त बौद्ध धर्मावलंबी देश, जैसे चीन, तिब्बत, बर्मा, स्याम तथा हिमालय के ंदर के प्रदेश, इसी कुल की भाषाएं बोलने वालों से बसे हैं। संपूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया में इस कुल की भाषाएं प्रचलित हैं। इन सब में

चीनी भाषा मुख्य है। ईसा से दो सहर्ष वर्ष पूर्व तक चीनी भाषा के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

५. यूरल-अलटाइक कुल—इस को तूरानी या सीदियन कुल भी कहते हैं। इस कुल की भाषाएं चीन के उत्तर में मंगोलिया, मंचूरिया तथा साइबेरिया में बोली जाती हैं। तुर्की या तातारी भाषा इसी कुल की हैं। यूरोप में भी इस की एक शाखा गई है जिस की भिन्न-भिन्न बोलियाँ रूस के कुछ पूर्वी भागों में बोली जाती हैं। कुछ विद्वान् जापान तथा कोरिया की भाषाओं की गणना भी इसी कुल में करते हैं। दूसरे इन्हें तिब्बती-चीनी कुल में रखते हैं।

६. द्राविड़ कुल—इस कुल की भाषाएं दक्षिण-भारत में बोली जाती हैं, जिनमें मुख्य तामिल, तेलगू, मलयालम तथा कनारी हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि ये उत्तर-भारत की आर्य-भाषाओं से बिलकुल भिन्न हैं।

७. मैले-पालीनेशियन कुल—मलाका प्रायद्वीप, प्रशांत महासागर के सुमात्रा, जावा, बोर्नियो इत्यादि द्वीपों तथा अफ्रीका के निकटवर्ती मडागास्कर द्वीप में इस कुल की भाषाएं बोली जाती हैं। न्यूज़ीलैंड की भाषा भी इसी कुल की है। भारत में संथालो इत्यादि की कोल-भाषाएं इसी कुल में गिनी जाती हैं। मलय-साहित्य तेरहवीं शताब्दी तक का पाया जाता है। जावा में तो ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों तक के लेख इसी कुल की भाषाओं में मिले हैं। इन देशों की सभ्यता पर भारत के हिंदूकाल का बहुत प्रभाव पड़ा था।

८. बंटू कुल—इस कुल की भाषाएं दक्षिण अफ्रीका के आदिम-निवासी बोलते हैं। जंज़ीबार की स्वाहिली भाषा इसी कुल में है। यह व्यापारियों के बहुत काम की है।

९. मध्य-अफ्रीका कुल—उत्तर के हैमिटिक तथा दक्षिण के बंटू

कुलों के बीच में शेष मध्य-अफ्रीका में एक तीसरे कुल की बोलियां बोली जाती हैं। इन की गिनती मध्य-अफ्रीका कुल में की गई है। ब्रिटिश सूडन की भाषाएं इसी कुल में हैं।

१०. अमेरिका की भाषाओं का कुल—उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका के मूल-निवासियों की बोलियों को एक पृथक् कुल में स्थान दिया गया है। मध्य-अफ्रीका की बोलियों की तरह इनकी संख्या भी बहुत है, तथा इन में आपस में भेद भी बहुत है। थोड़ी-थोड़ी दूर पर बोली में अंतर हो जाता है।

११. आस्ट्रेलिया तथा प्रशांत महासागर की भाषाओं के कुल—आस्ट्रेलिया महाद्वीप तथा टस्मेनिया के मूल-निवासियों की भाषाएं एक कुल के अंतर्गत रक्खी जाती हैं। प्रशांत महासागर के छोटे-छोटे द्वीपों में दो अन्य भिन्न कुलों की भाषाएं बोली जाती हैं।

१२. शेष भाषाएं—कुछ भाषाओं का वर्गीकरण अभी तक ठीक-ठीक नहीं हो पाया है। उदाहरणार्थ काकेशिया प्रदेश की भाषाओं को किसी कुल में सम्मिलित नहीं किया जा सका है। इनमें जार्जियन का प्रचार सब से अधिक है। यूरोप की बास्क तथा यूट्रस्कन नाम की भाषाएं भी बिलकुल निराली हैं। संसार के किसी भाषा-कुल में इन की गणना नहीं की जा सकी है। यूरोप के भारत-यूरोपीय कुल की भाषाओं से इन का कुछ भी संबंध नहीं है।

ख. भारत यूरोपीय कुल[1]

संसार की भाषाओं के इन बारह मुख्य कुलों में भारत-यूरोपीय कुल से हमारा विशेष संबंध है। जैसा बतलाया जा चुका है, इस कुल

[1] इ० ब्रि० (१४ वां संस्करण), देखिये 'इंडो-यूरोपियन' शीर्षक लेख में भाषा-संबंधी विवेचन।

की भाषाएं प्रायः संपूर्ण यूरोप, ईरान, अफ़गानिस्तान तथा उत्तर भारत में फैली हुई हैं। इन्हें प्रायः दो समूहों में विभक्त किया जाता है जो 'कैंटम्' और 'शतम्' समूह कहलाते हैं।[१] प्रत्येक समूह में चार-चार उपकुल हैं। इन आठों उपकुलों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है:—

१. **आर्य या भारत-ईरानी**—इसी उपकुल में तीन मुख्य शाखाएं हैं। प्रथम में भारतीय आर्य-भाषाएं हैं तथा दूसरे में ईरानी भाषाएं एक तीसरी शाखा दर्द या पैशाची भाषाओं की भी मानी जाने लगी है। इन का विशेष उल्लेख आगे किया जायगा।

२. **आरमेनियन**—आर्य उपकुल के पश्चिम में आरमेनियन है। इस में ईरानी शब्द अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। आरमेनियन भाषा यूरोप और एशिया की भाषाओं के बीच में है।

३. **बाल्टो-स्लैवोनिक**—इस उपकुल की भाषाएं काले समुद्र के उत्तर में प्रायः संपूर्ण रूस में फैली हुई हैं। आर्य उपकुल की तरह इस की भी शाखाएं हैं। बाल्टिक शाखा में लिथूएनियन, ेटिश और

---

[१] भारत-यूरोपीय कुल की भाषाओं को दो समूहों में विभक्त करने का आधार कुछ कंठ देशीय मूल-वर्णों (क, ख, ग, घ,) का उन समूहों की भाषाओं में भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करना है। एक समूह में ये स्पर्श व्यंजन ही रहते हैं, किंतु दूसरे में ये ऊष्म (सिबिलैंट्स) हो जाते हैं। यह भेद इस भाषाओं में पाए जानेवाले "सौ" शब्द के दो भिन्न रूपों से भली प्रकार प्रकट होता है। लैटिन में, जो प्रथम समूह की भाषाओं में से एक है, 'सौ' के लिए 'कैंटम्' शब्द आता है; किंतु संस्कृत में, जो दूसरे समूह की है, 'शतम्' रूप मिलता है। पहला समूह बिलकुल यूरोपीय है और 'कैंटम् समूह' के नाम से पुकारा जाता है। दूसरे समूह में पूर्व यूरोप, ईरान तथा भारत की आर्यभाषाएं सम्मिलित हैं। यह 'शतम् समूह' कहलाता है।

प्राचीन प्रशियन बोलियां हैं। स्लैवोनिक शाखा में बलगेरिया की प्राचीन भाषा, रूस की भाषाएं, सर्वियन, स्लोवेन, पोलैंड की भाषा, ज़ेक अथवा बोहेमियन और सर्व ये मुख्य भेद हैं।

४. अलबेनियन—'शतम् समूह' की अंतिम भाषा अलबेनियन है। आरमेनियन की तरह इस पर भी निकटवर्ती भाषाओं का प्रभाव अधिक है। इस भाषा में प्राचीन साहित्य नहीं पाया जाता।

५. ग्रीक—'कंटम् समूह' की भाषाओं में यह उपकुल सब से प्राचीन है। प्रसिद्ध कवि होमर ने 'ईलियड' तथा 'ओडेसी' नामक महाकाव्य प्राचीन ग्रीक भाषा में ही लिखे थे। सुकरात तथा अरस्तू के मूल-ग्रंथ भी इसी में हैं। आजकल भी यूनान देश में इसी प्राचीन भाषा की बोलियों में से एक का नवीन रूप बोला जाता है।

६. इटैलिक या लैटिन—प्राचीन रोमन साम्राज्य की लैटिन भाषा के कारण यह उपकुल विशेष आदरणीय हो गया है। यूरोप की संपूर्ण वर्तमान भाषाओं पर लैटिन और ग्रीक भाषाओं का बहुत प्रभाव पड़ा है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में भी विज्ञान से शब्दों का निर्माण इन्हीं प्राचीन भाषाओं के सहारे होता है। इटली, फ्रांस, स्पेन, रूमानियां तथा पुर्तगाल को वर्तमान भाषाएं लैटिन ही की पुत्रियां हैं।

७. केल्टिक—इस उपकुल की भाषाओं में दो मुख्य भेद हैं। एक का वर्तमान रूप आयर्लैंएड में मिलता तथा दूसरे का ग्रेट ब्रिटेन के स्काटलैंड, वेल्स तथा कार्नवाल प्रदेशों में पाया जाता है। इस उपकुल की पुरानी गाल भाषा अब जीवित नहीं है।

८. जर्मनिक या ट्यूटानिक—इस का प्राचीन रूप गाथिक और नार्स भाषाओं में मिलता है। प्राचीन नार्स भाषा से निकट ऐतिहासिक काल में स्वीडेन, नार्वे, डेन्मार्क तथा आइसलैंड की भाषाएं निकली हैं। जर्मन, डच, फ़्लेमिश तथा अंग्रेज़ी भाषाएं इसी कुल में हैं।

ग. आर्य अथवा भारत-ईरानी उपकुल

भारत-यूरोपीय कुल के इन आठ उपकुलों में आर्य अथवा भारत-ईरानी उपकुल का कुछ विशेष उल्लेख करना आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है इसकी तीन मुख्य शाखाएं हैं—१. ईरानी. २. पैशाची या दर्द, तथा ३. भारतीय आर्यभाषा।

१. ईरानी[1]—ऐतिहासिक क्रम के अनुसार ईरान की भाषाओं के तीन भेद मिलते हैं—(च) पुरानी फ़ारसी के सब से प्राचीन नमूने पारसियों के धर्मग्रंथ अवस्ता में मिलते हैं। अवस्ता के सब से पुराने भाग ईसा से लगभग चौदह शताब्दी पूर्व के माने जाते हैं। अवस्ता की भाषा ऋग्वेद की भाषा से बहुत मिलती-जुलती है। इस में आश्चर्य भी नहीं, क्योंकि ईरान के प्राचीन लोग अपने को आर्य-वर्ग का मानते थे। इस का उल्लेख इन के ग्रंथों में बहुत स्थलों पर आया है। अवस्ता के बाद पुरानी फ़ारसी भाषा के नमूने कीलाक्षर लिपि में लिखे हुए शिला-खंडों और ईंटों पर पाए गए हैं। इन में सब से प्रसिद्ध हखामनीय वंश महाराज दारा (५२२-४८६ ई० पू०) के शिलालेख हैं। इन लेखों में दारा अपने आर्य होने का उल्लेख गर्व के साथ करता है। (त्र) पुरानी फ़ारसी के बाद माध्यमिक-फ़ारसी का काल आता है। इस का मुख्य-रूप पहलवी है। ईसवी तीसरी से सातवीं शताब्दी तक ईरान में सासन-वंशी राजाओं ने राज्य किया था। उन के संरक्षण में पहलवी साहित्य ने बहुत उन्नति की थी। (ज्ञ) नई-फ़ारसी का सबसे प्राचीन रूप फ़िरदौसी के शाहनामे में मिलता है। फ़िरदौसी ने सेमिटिक कुल की भाषाओं के शब्दों को अपनी भाषा में अधिक नहीं मिलने दिया

---

[1]इ० ब्रि०, १४ वां संस्करण, 'ईरानियन लैंग्वेजेज़ ऐंड पर्शियन'। लि० स०, भूमिका, भा १, अ० ६, 'ईरानियन ब्रांच'।

था, परंतु आजकल साहित्यिक फ़ारसी में अरबी शब्दों की भरमार हो गई है। रूसी तुर्किस्तान की ताज़ीकी, अफ़ग़ानिस्तान की पश्तो तथा बलूचिस्तान की बलूची भाषाएं नई फ़ारसी की ही प्रशाखाएं हैं।

२. पैशाची[1]—यह माना जाता है कि मध्य एशिया की ओर से आर्य लोग भारत में कदाचित् दो मुख्य मार्गों से आये थे। एक तो हिंदूकुश पर्वत के पश्चिम से होकर काबुल के मार्ग से, और दूसरे वत्तु (आक्सस) नदी के उद्गम-स्थान से सीधे दक्षिण की ओर दुर्गम पर्वतों को पार करके। इस दूसरे मार्ग से आनेवाले समस्त आर्य उत्तर भारत के मैदानों में पहुँच गये होंगे इस में संदेह है। कम से कम कुछ आर्य हिमालय के पहाड़ी प्रदेश में अवश्य रह गए होंगे। इन लोगों की भाषा पर संस्कृत का प्रभाव न पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि संस्कृत का विशेष रूप भारत में आने के बाद हुआ था। आजकल इन भाषाओं के बोलनेवाले काश्मीर तथा उस के उत्तर में हिमालय के दुर्गम प्रदेशों में पाए जाते हैं। यह भाषाएं भारतीय-असंस्कृत आर्य-भाषाएं कहला सकती हैं। इन का दूसरा नाम पिशाच या दर्द भाषाएं भी हैं। काश्मीर भाषा इन्हीं में से एक है। इस पर संस्कृत का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि कुछ दिनों पूर्व तक यह भारत की शेष आर्य-भाषाओं में गिनी जाती थी। काश्मीरी भाषा प्राय: शारदा लिपि में लिखी जाती है। मुसलमान लोग फ़ारसी लिपि का व्यवहार करते हैं।

३. भारतीय-आर्य अथवा आर्यावर्ती—यह शाखा भी तीन कालों में विभक्त की जाती है—प्राचीन काल, मध्यकाल, तथा आधुनिक काल। (त्र) प्राचीन काल की भाषा का अनुमान ऋग्वेद के प्राचीन अंशों से हो सकता है। इस काल की भाषा का और कोई चिन्ह नहीं रहा है। (त्र) मध्यकाल की भाषा के बहुत उदाहरण मिलते हैं। पाली,

[1] लि० स०, भूमिका, भा० १, अ० १०

अशोक की धर्मलिपियों की भाषा, साहित्यिक प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएं इसी काल में गिनी जाती हैं। (ञ) आधुनिक काल में भारत की वर्तमान आर्यभाषाएं हैं। इन के भिन्न-भिन्न रूप आजकल समस्त उत्तर भारत में बोले जाते हैं। साहित्यिक दृष्टि से इन में हिंदी, बँगला, मराठी तथा गुजराती मुख्य हैं। इस शाखा की भाषाओं का विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

संसार की भाषाओं में हिंदी का स्थान क्या है, यह अब स्पष्ट हो गया होगा। ऊपर दिए हुए पारिभाषिक नामों के सहारे संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संसार के भाषासमूहों में भारत-यूरोपीय कुल के भारत-ईरानी उपकुल में भारतीय-आर्य शाखा की आधुनिक भाषाओं में से एक मुख्य भाषा हिंदी है।

---

२. भारतीय आर्यभाषाओं का इतिहास

क. आर्यों का मूल-स्थान तथा भारत-प्रवेश[१]

यह स्पष्ट है कि भारत की अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं के समान हिंदी भाषा का जन्म भी आर्यों की प्राचीन भाषा से हुआ है। भारतीय आर्यों की तत्कालीन भाषा धीरे-धीरे हिंदी भाषा के रूप में कैसे परिवर्त्तित हो गई, यहाँ इसी पर विचार करना है। किंतु सब से पहले इन भारतीय आर्यों के मूल स्थान के संबंध में कुछ जान लेना अनुचित न होगा[२]।

---

[१]लि० स०, भूमिका, भा० १, अ० ८

[२]प्राचीन भारतीय ग्रंथों में आर्यों के भारत-आगमन के संबंध में कोई उल्लेख नहीं है। पुराने ढंग के भारतीय विद्वानों का मत था कि आर्य लोगों का मूल-स्थान तिब्बत में किसी जगह पर था। वहीं मनुष्य-सृष्टि हुई थी, और उसी स्थान से संसार में लोग फैले। भारत में भी आर्य लोग वहीं से आए थे।

ऋग्वेद के कुछ मंत्रों के आधार पर लोकमान्य पंडित बाल गंगाधर तिलक ने उत्तरी ध्रुव के निकटवर्ती प्रदेश में आर्यों का मूलस्थान होना प्रतिपादित किया था। इस कल्पना का खंडन करते हुए बंगाल के एक नवयुवक विद्वान् ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक-इंडिया' में यह सिद्ध करने का यत्न किया कि आर्यों का मूलस्थान भारत में ही सरस्वती नदी के तट पर अथवा उसी के उद्गम के निकट हिमालय के अंदर के हिस्से में कहीं पर था। उन के मतानुसार प्राचीन ग्रंथों में ब्रह्मवर्त्त देश की पवित्रता का कारण कदाचित यही था। यहीं से जाकर आर्य लोग

हमारे पूर्वज आर्यों का मूल निवास स्थान कहां था, इस संबंध में बहुत मतभेद है। भाषा-विज्ञान के आधार पर यूरोपीय विद्वानों का

ईरान में बसे। भारतीय आर्यों के पश्चिम की ओर बसनेवाली कुछ अनार्य जातियां, जिन की भाषा पर आर्य-भाषा का, प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, बाद को भगाई जाने पर यूरोप के मूलनिवासियों को विजय करके वहां जा बसी थी। यूरोपीय भाषाओं में इसी लिए आर्य-भाषा के चिन्ह बहुत कम पाए जाते हैं। वास्तव में वे आर्य भाषाएं हैं ही नहीं।

जो कुछ हो, आर्यों के मूलस्थान के विषय में निश्चयपूर्वक अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। संसार के विद्वानों का, जिन में यूरोप के विद्वानों का आधिक्य है, आजकल यही मत है कि आर्यों का आदिम स्थान पूर्व-यूरोप में बाल्टिक समुद्र के निकट कहीं पर था। इस स्थान से ईरान तथा भारत की ओर आने के मार्ग के संबंध में दो मत हैं। पुराने मत के अनुसार यह मार्ग कैस्पियन समुद्र के उत्तर से मध्य-एशिया में हो कर माना जाता था। थोड़े दिन हुए पश्चिम ईरान तथा टर्की में कुछ प्राचीन आर्य-देवताओं के नाम (मित्र, वरुण इंद्र, नासत्य) एक लेख पर मिले हैं। यह लेख लगभग २४०० ई० पू० काल का माना जाता है। इस कारण एक नवीन मत यह हो गया है कि भारत-ईरानी बोलनेवालों का एक समूह काले समुद्र के पश्चिम से हो कर आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी समूह में से कुछ लोग ईरान में बसते हुए आगे मध्य-एशिया तथा भारत की ओर बढ़ सकते हैं। मध्य-एशिया की प्रशाखा के लोग हिंदूकुश की घाटियों में हो कर बाद को दर्दिस्तान तथा काश्मीर में कदाचित् जा बसे हों। ये ही वर्तमान पैशाची या दर्द भाषा के बोलनेवालों के पूर्वज रहे होंगे।

अनुमान है कि वे मध्य एशिया अथवा दक्षिण-पूर्व यूरोप में कहीं रहते थे। यह अनुमान इस प्रकार लगाया गया है कि भारत-यूरोपीय कुल की यूरोपीय, ईरानी तथा भारतीय प्रशाखाएं जहां पर मिली हैं, उसी के आस-पास कहीं इन भाषाओं के बोलने वालों का मूल स्थान होना चाहिए, क्योंकि उसी जगह से ये लोग तीन भागों में विभक्त हुए होंगे। सब से पहले यूरोपीय शाखा अलग हो गई थी, क्योंकि उस की भाषाओं और शेष आर्यों की भारत-ईरानी भाषाओं में बहुत भेद है। ये शेष आर्य कदाचित् बहुत समय तक साथ रहते रहे। बाद को एक शाखा ईरान में जा बसी और दूसरी भारत में चली आई। इन दोनों शाखाओं के लोगों के प्राचीनतम ग्रंथ अवस्था और ऋग्वेद हैं, जिन की भाषा एक-दूसरी से बहुत कुछ मिलती है। उच्चारण के कुछ साधारण नियमों के अनुसार परिवर्तन करने पर दोनों भाषाओं का रूप एक हो जाता है।

भारत में आनेवाले आर्य एक ही समय में नहीं आए होंगे, किंतु संभावना ऐसी है कि ये कई बार में आए होंगे। वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाओं से पता चलता है कि आर्य लोग भारत में दो बार में अवश्य आए थे[1]। ऋग्वेद तथा बाद के संस्कृत साहित्य में भी इस के

---

[1]भाषा-शास्त्र के नियमों के अनुसार भाषाओं के सूक्ष्म भेदों पर विचार करने के अनंतर हार्नली साहब भी (हा० ई० हि० ग्रै०, भूमिका, पृ० ३२) इसी मत पर पहुँचे थे। उन के मत में प्राचीन उत्तर भारत में दो भाषा-समुदाय थे —एक शौरसेनी भाषा-समुदाय तथा दूसरा मागधी भाषा-समुदाय। मागधी भाषा का प्रभाव भारत के पश्चिमोत्तर कोने तक था। शौरसेनी के दबाव के कारण पश्चिम में इस का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो गया। ग्रियर्सन महोदय भी कुछ-कुछ इसी मत की पुष्टि करते हैं। (लि० स० भूमिका, भा० १, पृ० ११६)।

कुछ प्रमाण मिलते हैं।[1] यदि वे एक दूसरे से बहुत समय के अनंतर आए होंगे, तो इन की भाषा में भी कुछ भेद हो गया होगा। पहली बार में आने वाले आर्य कदाचित् काबुल की घाटी के मार्ग से आए थे, किंतु दूसरी बार में आने वाले आर्य किस मार्ग से आए थे इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। संभावना ऐसी

---

[1] ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से अरकोसिया का राजा दिवोदास तत्कालीन जान पड़ता है। अन्य ऋचाओं में दिवोदास के पौत्र पंजाब के राजा सुदास का वर्णन समकालीन की भाँति है। राजा सुदास की विजयों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उन्हों ने पुरु नाम की एक अन्य आर्य-जाति को, जो पूर्व यमुना के किनारे रहती थी, विजय किया था। पुरु लोगों को मृध्रवाच अर्थात् अशुद्ध भाषा बोलनेवाले कह कर संबोधन किया है। उत्तर-भारत के आर्यों में इस भेद के होने के चिह्न बाद को भी बराबर मिलते हैं। ऋग्वेद में ही पश्चिम के ब्राह्मण वसिष्ठ और पूरब के क्षत्रिय विश्वामित्र की अनबन का बहुत कुछ उल्लेख है। विश्वामित्र ने रुष्ट हो कर वसिष्ठ को 'यातुधान' अर्थात् राक्षस कहा था। यह वसिष्ठ को बहुत बुरा लगा। महाभारत का कुरु और पांचालों का युद्ध भी इस भेद की ओर संकेत करता है। लैसन साहब ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि पंचाल लोग कुरुओं की अपेक्षा पहले से भारत में बसे हुये थे। रामायण से भी इस भेद-भाव की कल्पना की पुष्टि होती है। महाराज दशरथ मध्य-देश के पूर्व में कोशल जनपद के राजा थे, किंतु उन्हों ने विवाह मध्यदेश के पश्चिम केकय जनपद में किया था। इक्ष्वाकु लोगों का मूलस्थान सतलज के निकट इक्षुमती नदी के तट पर था। ये सब अनुमान तथा कल्पनाएं पश्चिमी विद्वानों की खोज के फलस्वरूप हैं।

है कि ये लोग काबुल की घाटी के मार्ग से नहीं आए, बल्कि गिलगित और चितराल होते हुए सीधे दक्षिण की ओर उतरे थे।

पंजाब में उतरने पर इन नवागत आर्यों को अपने पुराने भाइयों से सामना करना पड़ा होगा, जो इतने दिनों तक इन से अलग रहने के कारण कुछ भिन्न-भाषा-भाषी हो गए होंगे। ये नवागत आर्य कदाचित् पूर्व पंजाब में सरस्वती नदी के निकट बस गए। इन के चारों ओर पूर्वागत आर्य बसे हुए थे। धीरे-धीरे ये नवागत आर्य फैले होंगे। संस्कृत साहित्य में एक 'मध्यदेश'[1] शब्द आता है। इस का व्यवहार आरंभ में केवल कुरु-पंचाल और उस के उत्तर के हिमालय प्रदेश के लिए हुआ है। बाद को इस शब्द से अभिप्रेत भूमिभाग की सीमा में विकास हुआ है। संस्कृत ग्रंथों ही के आधार पर हिमालय और विंध्य के बीच में तथा सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से प्रयाग तक का भूमि-भाग 'मध्यदेश' कहलाने लगा था। इस भूमिभाग में बसनेवाले लोग उत्तम माने गए हैं और उन की भाषा भी प्रामाणिक मानी गई है। कदाचित् यह नवागत आर्यों की ही बस्ती थी, जो अपने को पूर्वागत आर्यों से श्रेष्ठ समझती थी। वर्तमान आर्य-भाषाओं में भी यह भेद स्पष्ट है। प्राचीन मध्यदेश की वर्तमान भाषा हिंदी चारों ओर की शेष आर्य-भाषाओं से अपनी विशेषताओं के कारण पृथक् है। इसी भूमिभाग की शौरसेनी प्राकृत अन्य प्राकृतों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट है। कुछ विद्वान् साहित्यिक संस्कृत का उत्पत्ति-स्थान भी शूरसेन (मथुरा) प्रदेश ही मानते हैं।

---

[1] **इस शब्द के विस्तृत विवेचन के लिए ना० प्र० प०, भा० ३, अं० १ में लेखक का 'मध्यदेश का विकास' शीर्षक लेख देखिए।**

[1] ख प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल

(१५०० पू० ई०—[1]२०० पू० ई०)

भारतीय आर्यों की तत्कालीन भाषा का थोड़ा-बहुत रूप अब केवल ऋग्वेद में देखने को मिलता है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना भिन्न-भिन्न देश-कालों में हुई थी, किंतु उन का संपादन कदाचित् एक ही हाथ से एक ही काल में होने के कारण उस में भाषा का भेद अब अधिक नहीं पाया जाता। ऋग्वेद का संपादन पश्चिम 'मध्यदेश' अर्थात् पूर्वी पंजाब और गंगा के उत्तरी भाग में हुआ था, अतः यह इस भूमिभाग के आर्यों की भाषा का बहुत कुछ पता देता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक है। आर्यों की अपनी बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में अंतर अवश्य रहा होगा। उस समय के आर्यों की बोली का ठेठ रूप अब हमें कहीं नहीं मिल सकता। उस की जो थोड़ी बहुत बानगी साहित्यिक भाषा में आ गई हो, उस की खोज की जा सकती है। ऋग्वेद के अतिरिक्त उस समय की भाषा का अन्य कोई भी आधार नहीं है। ऋग्वेद का रचना-काल ईसा से एक सहस्र वर्ष से भी अधिक पहले का माना जाता है। इन आर्यों की ठेठ बोली प्राचीन-भारतीय-आर्यभाषा कहला सकती है। इस काल की बोलचाल की भाषा से मिश्रित साहित्यिक रूप ऋग्वेद में मिलता है। आर्यों की इस साहित्यिक भाषा में परिवर्तन होता रहा। इस के नमूने ब्राह्मण-ग्रंथों और सूत्र-ग्रंथों में मिलते हैं। सूत्र-काल के साहित्यिक रूप को वैयाकरणों ने बांधना आरंभ किया। पाणिनि ने (३०० ई० पू०) उस को ऐसा जकड़ा कि उस में परिवर्तन होना बिलकुल रुक गया। आर्यों की भाषा का यह साहित्यिक रूप संस्कृत नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस का प्रयोग उस

---

[1] लि० स०, भूमिका, भा० १, अ० ११, १२

समय से अब तक संपूर्ण भारत में विद्वान लोग धर्म और साहित्य में करते आए हैं। साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त आर्यों की बोलचाल की भाषा में भी परिवर्तन होता रहा। ऋग्वेद की ऋचाओं से मिलती-जुलती आर्यों की मूल बोली भी धीरे-धीरे बदली होगी। जिस समय 'मध्यदेश' में संस्कृत साहित्यिक भाषा का स्थान ले रही थी, उस समय की वहां के जन समुदाय की बोली[1] के नमूने अब हमें प्राप्त नहीं हैं।

किंतु पूर्व में मगध अथवा कोसल की बोली का तत्कालीन परिवर्तित रूप (यह ध्यान रखना चाहिए कि वैदिक काल में मगध आदि पूर्वी प्रांतों की भी बोली भिन्न रही होगी) उस बोली में बुद्ध भगवान के धर्म प्रचार करने के कारण सर्व-मान्य हो गया। इस मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल की मगध अथवा कोसल की बोली का कुछ नमूना हमें पाली में मिलता है। वास्तव में पाली में लोगों की बोली और साहित्यिक रूप का मिश्रण है। उत्तर-भारत के आर्यों की बोली में फिर भी परिवर्तन होता रहा। आजकल के इस के भिन्न-भिन्न रूप उत्तर भारत की वर्तमान बोलियों और उनके साहित्यिक रूपों में मिलते हैं। इस अंतिम काल को आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा काल नाम देना उचित होगा। खड़ीबोली हिंदी इसी तृतीय काल की मध्यदेश की वर्तमान साहित्यिक भाषा है।

इन तीनों कालों के बीच में बिलकुल अलग-अलग लकीरें नहीं खींची जा सकतीं। ऋग्वेद में जो एक-आध रूप मिलते हैं, उन को

---

[1] साहित्यिक भाषा से भिन्न लोगों की कुछ बोलियां भी अवश्य थीं, इस के प्रमाण हमें तत्कालीन संस्कृत साहित्य में मिलते हैं। पतंजलि के समय में व्याकरण-शास्त्र जानने वाले केवल विद्वान ब्राह्मण शुद्ध संस्कृत बोल सकते थे। अन्य ब्राह्मण अशुद्ध संस्कृत बोलते थे, तथा साधारण लोग 'प्राकृत भाषा' (स्वाभाविक बोली) बोलते थे।

यदि छोड़ दिया जाय, तो मध्यकाल के उदाहरण अधिक मात्रा में पहले-पहल अशोक की धर्म-लिपियों में (२५० ई० पू०) पाए जाते हैं। यहां यह प्राकृत प्रारंभिक अवस्था में नहीं है किंतु पूर्ण विकसित रूप में है। मध्य-काल की भाषा से आधुनिक काल की भाषा में परिवर्तन इतने सूक्ष्म ढंग से हुआ है कि दोनों के मध्य की भाषा को निश्चित रूप से किसी एक में रखना कठिन है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी इन तीनों कालों में भाषाओं की अपनी-अपनी विशेषताएं स्पष्ट हैं। प्रथम काल में भाषा संयोगात्मक है, तथा संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग स्वतंत्रता-पूर्वक किया गया है। द्वितीय काल में भी भाषा संयोगात्मक ही रहा, किंतु संयुक्त स्वरों और संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग बचाया गया है। इस काल के अंतिम साहित्यिक रूप महाराष्ट्री प्राकृत के शब्दों में तो प्रायः केवल स्वर ही स्वर रह गए, जो एक-आध व्यंजन के सहारे जुड़े हुए हैं। यह अवस्था बहुत दिनों तक नहीं रह सकती थी। तृतीय काल में भाषा वियोगात्मक हो गई और स्वरों के बीच में फिर संयुक्त वर्ण डाले जाने लगे। वर्तमान वाह्य समुदाय की कुछ भाषाएं तो आजकल फिर संयोगात्मक होने की ओर झुक रही हैं। इस प्रकार वे प्रथम काल की भाषा का रूप धारण कर रही हैं। मालूम होता है कि परिवर्तन का यह चक्र पूर्ण हुए बिना न रहेगा।

ग. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल

(५०० ई० पू०—१००० ई०)

इस का उल्लेख किया जा चुका है कि प्रथम काल में बोलियों का भेद वर्तमान था। उस समय कम से कम दो भेद अवश्य थे—एक पूर्व प्रदेश में पूर्वागत आर्यों की बोली, और दूसरे पश्चिम भाग अर्थात् 'मध्यदेश' में नवागत आर्यों की बोली, जिस का साहित्यिक

रूप ऋगवेद में मिलता है। पश्चिमोत्तर भाग की भी कोई पृथक् बोली थी या नहीं, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

१. पाली तथा अशोक की धर्म लिपियाँ (५०० ई० पू०—१ ई० पू०)—द्वितीय प्राकृत काल में भी बोलियों का यह भेद पाया जाता है। इस संबंध में महाराज अशोक की धर्म लिपियों से पूर्व का हमें कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं मिलता। इन धर्म-लिपियों की भाषा देखने से विदित होता है कि उस समय उत्तर-भारत की भाषा में कम से कम तीन भिन्न-भिन्न रूप—पूर्वी, पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तरी—अवश्य थे। कोई दक्षिणी रूप भी था या नहीं, इस संबंध में निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इस काल की साहित्यिक भाषा पाली कदाचित् अर्द्धमागधी क्षेत्र की प्राचीन बोली के आधार पर बनी थी।

२. साहित्यिक प्राकृत भाषाएं (१ ई०-५०० ई०) -लोगों की बोली में बराबर परिवर्तन होता रहा और अशोक की धर्मलिपियों की भाषाएं ही बाद को "प्राकृत" के नाम से प्रसिद्ध हुईं। मध्यकाल में संस्कृत के साथ-साथ साहित्य में इन प्राकृतों का भी व्यवहार होने लगा। इन में काव्यग्रंथ तथा धर्मपुस्तकें लिखी जाने लगीं। संस्कृत नाटकों में भी इन्हें स्वतंत्रता-पूर्वक बराबर की पदवी मिलने लगी। समकालीन अथवा कुछ समय के अनंतर होनेवाले विद्वानों ने इन प्राकृत भाषाओं के व्याकरण रच डाले। साहित्य और व्याकरण के प्रभाव के कारण इनके मूल रूप में बहुत अंतर हो गया। इन प्राकृतों के साहित्यिक रूपों के ही नमूने आज कल हमें प्राकृत-ग्रंथों में देखने को मिलते हैं। उस समय की बोलियों के शुद्ध रूप के संबंध में हम लोगों को अधिक ज्ञान नहीं है। तो भी अशोक की धर्मलिपियों की भाषा की तरह उस समय भी पूर्वी और पश्चिमी दो भेद तो स्पष्ट ही थे। पश्चिमी भाषा का मुख्य रूप शौरसेनी प्राकृत था और पूर्वी

का मागधी प्राकृत, अर्थात् मगध या दक्षिण बिहार की भाषा। इन दोनों के बीच में कुछ भाग की भाषा का रूप मिश्रित था, यह अर्द्ध-मागधी कहलाती थी। इस अंतिम रूप से अधिक मिलती जुलती महाराष्ट्री प्राकृत थी जो आजकल के बरार प्रांत और उस के निकटवर्ती प्रदेश में बोली जाती थी। इन के अतिरिक्त पश्चिमोत्तर प्रदेश में एक भिन्न भाषा बोली जाती थी, जो प्रथम प्राकृत-काल में सिंधु नदी के तट पर बोली जाने वाली भाषा से निकली होगी। इस भाषा की स्थिति का प्रमाण द्वितीय प्राकृत काल की भाषाओं के अंतिम रूप अपभ्रंशों से मिलता है।

३ अपभ्रंश भाषाएँ (५०० ई०—१००० ई०) —साहित्य में प्रयुक्त होने पर वैयाकरणों ने 'प्राकृत' भाषाओं को कठिन अस्वाभाविक नियमों से बाँध दिया, किंतु जिन बोलियों के आधार पर उनकी रचना हुई थी वे बाँधी नहीं जा सकती थीं। लोगों कि ये बेलियाँ विकास को प्राप्त होती गईं। व्याकरण के नियमों के अनुकूल मजी और बँधी हुई साहित्यिक प्राकृतों के सन्मुख वैयाकरणों ने लोगों की नवीन बोलियों को 'अपभ्रंश' अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा नाम दिया। भाषा-तत्ववेत्ताओं की दृष्टि में इस का वास्तविक अर्थ 'विकास को प्राप्त' हुई भाषाएं होगा।

जब साहित्यिक प्राकृतें मृत भाषाएं हो गईं, उस समय इन अपभ्रंशों का भी भाग्य जगा और इनको भी साहित्य के क्षेत्र में स्थान मिलने लगा। साहित्यिक अपभ्रंशों के लेखक अपभ्रंशों का आधार प्राकृतों को मानते थे। उनके मत में यह 'प्रकृतोऽपभ्रंश' थीं। ये लेखक तत्कालीन बोली के आधार पर आवश्यक परिवर्तन करके साहित्यिक प्राकृतों को ही अपभ्रंश बना लेते थे, शुद्ध अपभ्रंश अर्थात् लोगों की असली बोली में नहीं लिखते थे। अतएव साहित्यिक प्राकृतों के समान साहित्यिक अपभ्रंशों से भी लोगों की तत्कालीन असली बोली

का ठीक पता नहीं चल सकता। तो भी यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय, तो उस समय की बोली पर बहुत कुछ प्रकाश अवश्य पड़ सकता है।

प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप होगा, जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रंश, महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश इत्यादि। वैयाकरणों ने अपभ्रंशों को इस प्रकार विभक्त नहीं किया था। वे केवल तीन अपभ्रंशों के साहित्यिक रूप मानते थे। इन के नाम नागर, ब्राचड और उपनागर थे। इन में नागर अपभ्रंश मुख्य थी। यह गुजरात के उस भाग में बोली जाती थी, जहां आजकल नागर ब्राह्मण बसते हैं। नागर ब्राह्मण विद्यानुराग के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। इन्हीं के नाम से कदाचित् नागरी अक्षरों का नाम पड़ा। नागर अपभ्रंश के व्याकरण के लेखक हेमचंद्र (बारहवीं शताब्दी) गुजराती ही थे। हेमचंद्र के मतानुसार नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत था। ब्राचड अपभ्रंश सिंध में बोली जाती थी। उपनागर अपभ्रंश ब्राचड तथा नागर के मेल से बनी थी अतः यह पश्चिमी राजस्थान और दक्षिणी पंजाब की बोली होगी। अपभ्रंशों के संबंध में हमारे ज्ञान के मुख्य आधार हेमचंद्र हैं किंतु इन्होंने केवल नागर (शौरसेनी) अपभ्रंश का ही वर्णन किया है। मार्कंडेय के व्याकरण से भी इन अपभ्रंशों के संबंध में अधिक सहायता नहीं मिलती। इन अपभ्रंश भाषाओं का काल छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी ईसवी तक माना जा सकता है। अपभ्रंश भाषाएं द्वितीय काल की अंतिम अवस्था की द्योतक हैं।

घ. आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल

(१००० ई० से वर्तमान समय तक)

इन में भारत की वर्तमान आर्य-भाषाओं की गणना है। इन की उत्पत्ति प्राकृत भाषाओं से नहीं हुई थी, बल्कि अपभ्रंशों से हुई थी।

शौरसेनी अपभ्रंश से हिंदी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती और पहाड़ी भाषाओं का संबंध है। इन में से गुजराती और राजस्थानी का संपर्क विशेषतया शौरसेनी के नागर अपभ्रंश के रूप से है। बिहारी, बंगला, आसामी और उड़िया का संबंध मागध अपभ्रंश से है। पूर्वी हिंदी का अर्धमागधी अपभ्रंश से तथा मराठी का महाराष्ट्री अपभ्रंश से संबंध है। वर्तमान पश्चिमोत्तरी भाषाओं का समूह शेष रह गया। भारत के इस विभाग के लिए प्राकृतों का कोई साहित्यिक रूप नहीं मिलता। सिंधी के लिए वैयाकरणों को ब्राचड अपभ्रंश का सहारा अवश्य है। लहंदा के लिए एक केकय अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती है। यह ब्राचड अपभ्रंश से मिलती-जुलती रही होगी। पंजाबी का संबंध भी केकय अपभ्रंश से होना चाहिए किंतु बाद को इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव बहुत पड़ा है। पहाड़ी भाषाओं के लिए खस अपभ्रंश की कल्पना की गई है, किंतु बाद को ये राजस्थानी से बहुत प्रभावित हो गई थीं।[1]

---

[1]अपभ्रंशों या प्राकृत और आधुनिक आर्यभाषाओं का इस तरह का संबंध बहुत संतोषजनक नहीं मालूम पड़ता। उदाहरण के लिए बिहारी, बँगला, उड़िया तथा आसामी भाषाओं का संबंध मागधी अपभ्रंश से माना जाता है। यदि इस का केवल इतना तात्पर्य हो कि मागधी अपभ्रंश के रूपों में थोड़े से ऐसे प्रयोग पाए जाते हैं जो आज कल इन समस्त पूर्वीय आर्यभाषाओं में भी मिलते हैं तब तो ठीक है। किंतु यदि इस का यह तात्पर्य हो कि ५०० ई० से १००० ई० के बीच में बिहार, बंगाल, आसाम तथा उड़ीसा में केवल एक बोली थी जिस का साहित्यिक रूप मागधी अपभ्रंश है, तब यह बात संभव नहीं मालूम होती। एक बोली बोलनेवाली जनता भी यदि इतने विस्तृत भूमि-खंड में फैल कर अधिक दिन रहेगी तो उस की बोली के अनेक

वर्तमान (आधुनिक भारतीय) आर्यभाषाओं का साहित्य में प्रयोग कम से कम दसवीं शताब्दी ईसवी के आदि से अवश्य प्रारंभ हो गया था तथा अपभ्रंश का व्यवहार ग्यारहवीं शताब्दी तक साहित्य में होता रहा था। किसी भाषा के साहित्य में व्यवहृत होने के योग्य बनने में कुछ समय लगता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि

रूपांतर हो जाना स्वाभाविक है। इसी प्रकार मागधी प्राकृत समस्त पूर्वी प्रदेशों की साहित्यिक भाषा तो भले ही रही हो किंतु १ ईसवी से ५०० ईसवी के बीच में इस प्राकृत से संबंध रखनेवाली एक ही बोली समस्त पूर्वी प्रदेशों में बोली जाती हो यह संभव नहीं प्रतीत होता। मेरी धारणा तो यह है कि मागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएं मगध-प्रदेश की बोली के आधार पर बनी हुई साहित्यिक भाषाएं रही होंगी। मगध के राजनीतिक प्रभाव के कारण यहां की बोली के आधार पर बनी हुई ये साहित्यिक भाषाएं समस्त पूर्वी प्रदेशों में मान्य हो गई होंगी। इन प्राकृत तथा अपभ्रंश कालों में भी बंगाल, आसाम, उड़ीसा, मिथिला तथा काशी प्रदेशों की बोलियां भिन्न-भिन्न रही होंगी। साहित्य में प्रयोग न होने के कारण अपभ्रंश तथा प्राकृत काल के इन प्रदेशों की भाषा के नमूने हमें उपलब्ध नहीं हो सके। मेरे अनुमान से बोलियों का यह भेद ६०० ई० पू० के लगभग भी कदाचित् मौजूद था। इस भेद का मूलाधार आर्यों के प्राचीन जनपदों से संबंध रखता है। मेरी धारणा है कि १००० ई० पू० के लगभग काशी, मगध, विदेह, अंग, बंग आदि जनपदों के आर्यों की बोलियां आज के इन प्रदेशों की बोलियों की अपेक्षा अधिक साम्य रखते हुए भी एक-दूसरे से कुछ भिन्न अवश्य रही होंगी। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जनपद की प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में कुछ विशेषताएं रही होंगी जो विकास को प्राप्त होकर आजकल की भिन्न-भिन्न भाषाएं

मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं के अंतिम रूप अपभ्रंशों से तृतीय काल की आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का आविर्भाव दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग हुआ होगा। भारत की राजनीतिक उथल-पथल में इसी समय एक स्मरणीय घटना हुई थी; १००० ईसवी के

तथा बोलियां हो गई हैं। अतः आधुनिक भाषाओं और बोलियों का मूलभेद कदाचित् १००० पू० ई० तक पहुँच सकता है।

शौरसेनी आदि अन्य अपभ्रंशों तथा प्राकृतों के संबंध में भी मेरी यही कल्पना है। शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश से आधुनिक पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, तथा पश्चिमी हिंदी निकली हो यह समझ में नहीं आता। शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश शूरसेन प्रदेश अर्थात् आजकल के ब्रज प्रदेश की उस समय की बोलियों के आधार पर बनी हुई साहित्यिक भाषाएं रही होंगी। साथ ही उस काल में अन्य प्रदेशों में भी आजकल की भाषाओं तथा बोलियों के पूर्व रूप प्रचलित रहे होंगे जिन का प्रयोग साहित्य में न होने के कारण उन के अवशेष अब हमें नहीं मिल सकते। आजकल भी ठीक ऐसी ही परिस्थिति है।

आज बीसवीं सदी ईसवी में भागलपुर तक समस्त गंगा की घाटी में केवल एक साहित्यिक भाषा हिंदी है, जिस का मूलाधार मेरठ-बिजनौर प्रदेश की खड़ी बोली है। किंतु साथ ही मारवाड़ी, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, बुंदेली आदि अनेक बोलियां अपने-अपने प्रदेशों में जीवित अवस्था में मौजूद हैं। साहित्य में प्रयोग न होने के कारण बीसवीं सदी की इन अनेक बोलियों के नमूने भविष्य में नहीं मिल सकेंगे। केवल खड़ी बोली हिंदी के नमूने जीवित रह सकेंगे। किंतु इस कारण पाँच सौ वर्ष बाद यह कहना कहां तक उपयुक्त होगा कि पचीसवीं शताब्दी में गंगा की घाटी में पाई जाने वाली समस्त बोलियां

लगभग ही महमूद ग़ज़नवी ने भारत पर प्रथम आक्रमण किया था। इन आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में हमारी हिंदी भाषा भी सम्मिलित है, अतः उस का जन्मकाल भी दशवीं शताब्दी ईसवी के लगभग मानना होगा।

खड़ी बोली हिंदी से निकली हैं। उस समय के उत्तर भारत की समस्त भाषाओं में खड़ी बोली हिंदी गंगा की घाटी की बोलियों के निकटतम अवश्य होगी किंतु यह तो दूसरी बात हुई।

प्रत्येक आधुनिक भाषा तथा बोली के प्राचीन तथा मध्यकालीन आर्यभाषा काल के क्रमबद्ध उदाहरण मिलना संभव नहीं है। अतः इस विषय पर शास्त्रीय ढंग से विवेचन हो सकना असंभव है। तो भी अपने देश तथा अन्य देशों की आधुनिक परिस्थिति को देख कर इस तरह का अनुमान लगाना बिलकुल स्वाभाविक होगा। कुछ प्रदेशों के संबंध में थोड़ा बहुत क्रमबद्ध अध्ययन भी संभव है। हिंन्दुस्तान की आधुनिक बोलियों के प्रदेशों के प्राचीन जनपदों से साम्य के संबंध में ना० प्र० प०, भा० ३, अं० ४ में विस्तार के साथ विचार प्रकट किए गए हैं।

---

३. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएं

क. वर्गीकरण

भाषातत्व के आधार पर ग्रियर्सन महोदय[1] आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभक्त करते हैं, जिन के अंदर छः भाषा समुदाय मानते हैं यह वर्गीकरण निम्न-लिखित कोष्ठक में दिखलाया गया है :—

ख. बाहरी उपशाखा	बोलनेवाले की संख्या १६२१ की जन-संख्या के आधार पर
पश्चिमोत्तरी समुदाय	करोड़—लाख
१. लहंदा	० —५७
२. सिंधी	० —३४
दक्षिणी समुदाय	
३. मराठी	१ —८८
पूर्वी समुदाय	
४. उड़िया	१ —०
५. बंगाली	४ —६३
६. आसामी	० —१७
७. बिहारी	३ —४३

---

[1] लि० स० भूमिका, अ० ११, पृ० १२०

आ. बीच की उपशाखा

बीच का समुदाय

८. पूर्वी हिंदी	२ —२६

इ. भीतरी उपशाखा

अंदर का समुदाय

९. पश्चिमी हिंदी	४ —१२
१०. पंजाबी	१ —६२
११. गुजराती	० —६६
१२. भीली	० —१६
१३. खानदेशी	० —२
१४. राजस्थानी	१ —२७

पहाड़ी समुदाय

१५. पूर्वी पहाड़ी या नैपाली	० —३
१६. बीच की पहाड़ी[1]	० —०
१७. पश्चिमी पहाड़ी	० —१७

ग्रियर्सन महोदय के मतानुसार बाहरी उपशाखा की भिन्न-भिन्न भाषाओं में उच्चारण तथा व्याकरण-संबंधी कुछ ऐसे साम्य पाए जाते हैं जो उन्हें भीतरी उपशाखा की भाषाओं से पृथक कर देते हैं।[2] उदाहरणार्थ भीतरी उपशाखा की भाषाओं के स का उच्चारण बाहरी उपशाखा की बंगला आदि पूर्वी समुदाय की भाषाओं में श हो जाता

[1] १९२१ की जन-संख्या में बीच की पहाड़ी बोलने वालों की भाषा प्रायः हिंदी लिखी गई है अतः इन की संख्या केवल ३८५३ दिखलाई गई है।

[2] लि० स०, भूमिका, अ० ११

है तथा पश्चिमोत्तरी समुदाय की कुछ भाषाओं में ह हो जाता है। संज्ञा के रूपांतरों में भी यह भेद पाया जाता है। भीतरी उपशाखा की भाषाएं अभी तक वियोगावस्था में हैं किंतु बाहरी उपशाखा की भाषाएं इस अवस्था से निकल कर प्राचीन आर्यभाषाओं के समान संयोगावस्था को प्राप्त कर चली हैं। उदाहरणार्थ हिंदी में संबंध कारक का के, की लगा कर बनाया जाता है। इन चिन्हों का संज्ञा से पृथक् अस्तित्व है। यही कारक बंगला में, जो बाहरी उपशाखा की भाषा है, संज्ञा में एर लगा कर बनता है और यह चिन्ह संज्ञा का एक भाग हो जाता है। क्रिया के रूपांतरों में भी इस तरह के भेद पाए जाते हैं, जैसे हिंदी में तीनों पुरुषों के सर्वनामों के साथ केवल एक मार कृदंत रूप का व्यवहार होता है, किंतु बंगला तथा बाहरी समुदाय की अन्य भाषाओं में अधिक रूपों का प्रयोग करना पड़ता है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को दो या तीन उपशाखाओं में विभक्त करने के सिद्धांत से चैटर्जी महोदय सहमत नहीं हैं, और इस संबंध में उन्होंने पर्याप्त प्रमाण[1] भी दिए हैं। चैटर्जी महोदय के वर्गीकरण को आधार मान कर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का स्वाभाविक वर्गीकरण निम्नलिखित रीति से किया जा सकता है। ग्रियर्सन साहब के समुदायों के विभाग से यह वर्गीकरण कुछ साम्य रखता है:—

क. उदीच्य (उत्तरी)

१. सिंधी
२. लहंदा
३. पंजाबी

---

[1] चै०, बे० लै०, § २६-३१, § ७६-७६
[2] चै०, बे० लै०, पृ० ६ मानचित्र

ख. प्रतीच्य (पश्चिमी)

४. गुजराती

ग. मध्यदेशीय (बीच का)

५. राजस्थानी

६. पश्चिमी हिंदी

७. पूर्वी हिंदी

८. बिहारी

घ. प्राच्य (पूर्वी)

९. उड़िया

१०. बंगाली

११. आसामी

ङ. दक्षिणात्य (दक्षिणी)

१२. मराठी

पहाड़ी भाषाओं का मूलाधार चैटर्जी महोदय पैशाची, दर्द, या खस को मानते हैं। बाद को मध्यकाल में ये राजस्थान की प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं के बहुत अधिक प्रभावित हो गई थीं।

ख. संक्षिप्त वर्णन

भाषा सर्वे[1] के आधार पर प्रत्येक आधुनिक भाषा का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

१. सिंधी—सिंध देश में सिंधु नदी के दोनों किनारों पर सिंधी भाषा बोली जाती है। इस भाषा के बोलनेवाले प्रायः मुसलमान हैं, इस लिए इस में फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बड़ी स्वतंत्रता से होता है।

---

[1] लि० स०, भूमिका, अ० १३-१९

हिंदी भाषा फ़ारसी लिपि के एक विकृत रूप में लिखी जाती है, यद्यपि निज के हिसाब-किताब में देवनागरी लिपि का एक बिगड़ा हुआ रूप व्यवहृत होता है। यह कभी-कभी गुरुमुखी में लिखी जाती है। सिंधी भाषा की पाँच मुख्य बोलियां हैं जिन में से मध्य-भाग की 'बिचोली' बोली साहित्य की भाषा का स्थान लिए हुए है। सिंध प्रदेश में ही पूर्व काल में ब्राचडी देश था, जहाँ की प्रकृत और अपभ्रंश इस देश के अनुसार ब्राचडी नाम से प्रसिद्ध थीं। सिंध के दक्षिण में कच्छ द्वीप में कच्छी बोली जाती है। यह सिंधी और गुजराती का मिश्रित रूप है। सिंधी भाषा में साहित्य बहुत कम है।

२. लहंदा—यह पश्चिम पंजाब की भाषा है। इस की और पंजाबी की सीमाएं ऐसी मिली हुई हैं कि दोनों में भेद करना दुःसाध्य है। लहंदा पर दर्द या पिशाच भाषाओं का प्रभाव बहुत अधिक है। इसी प्रदेश में प्राचीन केकय देश पड़ता है जहां पैशाची प्राकृत तथा कैकय अपभ्रंश बोली जाती थीं। लहंदा के अन्य नाम पश्चिमी पंजाबी, जटकी, उच्ची, तथा हिंद की आदि हैं। पंजाबी में लहंदे की बोली का अर्थ 'पश्चिम की बोली' है। 'लहंदा' शब्द का अर्थ सूर्यास्त की दिशा अर्थात् पश्चिम है। लहंदा में न तो विशेष साहित्य है और न यह कोई साहित्यिक भाषा ही है। एक प्रकार से यह कई मिलती-जुलती बोलियों का समूह मात्र है। लहंदा का व्याकरण और शब्दसमूह दोनों पंजाबी से बहुत-कुछ भिन्न हैं। यद्यपि इस की अपनी भिन्न लिपि 'लंडा' है, किंतु आज कल यह प्रायः फ़ारसी लिपि में ही लिखी जाती है।

३. पंजाबी—पंजाबी भाषा का भूमि-भाग हिंदी के ठीक पश्चिमोत्तर में है। यह मध्य पंजाब में बोली जाती है। पंजाब के पश्चिमी भाग में लहंदा और पूर्वी भाग में हिंदी का क्षेत्र है। पंजाबी पर दर्द अथवा पिशाच भाषाओं का कुछ प्रभाव शेष है। पंजाबी भाषा लहंदा

से ऐसी मिली हुई है कि दोनों का अलग करना कठिन है, किन्तु पश्चिमी हिंन्दी से इस का भेद स्पष्ट है। पंजाबी की अपनी लिपि लंडा ही है। यह राजपूताने की महाजनी और काश्मीर की शारदा लिपि से मिलती-जुलती है। यह लिपि बहुत अपूर्ण है और इस के पढ़ने में बहुत कठिनता होती है। सिक्खों के गुरु अंगद ने (१५३८-५२ ईसवी) देवनागरी की सहायता से इस लिपि में सुधार किया था। लंडा का यह नया रूप 'गुरुमुखी' कहलाया। आज कल पंजाबी भाषा की पुस्तकें इसी लिपि में छपती हैं। मुसलमानों के अधिक संख्या में होने के कारण पंजाब में उर्दू भाषा का प्रचार बहुत है और यही भाषा वास्तव में पंजाब के शिक्षित समुदाय का माध्यम है। उर्दू भाषा फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। पंजाबी भाषा का शुद्ध रूप अमृतसर के निकट बोला जाता है। इस भाषा में साहित्य अधिक नहीं है। सिक्खों के ग्रंथ साहब की भाषा प्राय: मध्य कालीन हिंदी (ब्रज) है, यद्यपि वह गुरुमुखी अक्षरों में लिखा गया है। पंजाबी भाषा में बोलियों का भेद अधिक नहीं है। उल्लेख योग्य केवल एक बोली 'डोग्री' है। यह जम्मू राज्य में बोली जाती है। 'टक्करी' या 'टाकरी' नाम की इस की लिपि भी भिन्न है।

४. गुजराती—गुजराती भाषा गुजरात, बड़ोदा और निकटवर्ती अन्य देशी राज्यों में बोली जाती है। गुजराती में बोलियों का स्पष्ट भेद अधिक नहीं है। पारसियों द्वारा अपनाई जाने के कारण गुजरात पश्चिम भारत में व्यवसाय की भाषा हो गई है। भीली और खानदेशी बोलियों का गुजराती से बहुत संपर्क है। गुजराती का साहित्य बहुत विस्तीर्ण तो नहीं है, किंतु तो भी उत्तम अवस्था में है। गुजराती के आदि कवि नरसिंह मेहता का (जन्म १४१३ ईसवी) गुजरात में अब भी बहुत आदर है। प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण हेमचन्द्र भो गुजराती ही थे। यह बारहवीं शताब्दी ईसवी में हुए थे। इन्होंने अपने व्याकरण

में गुजरात की नागर अपभ्रंश का वर्णन किया है। प्राचीन काल से अब तक की भाषा के क्रम-पूर्व उदाहरण केवल गुजरात में ही मिलते हैं। अन्य स्थानों की आर्यभाषाओं में यह क्रम किसी न किसी काल में टूट गया है। गुजराती पहले देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी, किंतु अब गुजरात में कैथी से मिलते-जुलते देवनागरी के बिगड़े हुए रूप का प्रचार हो गया है जो गुजराती लिपि कहलाती है।

५. राजस्थानी—पंजाबी के ठीक दक्षिण में राजस्थानी अथवा राजस्थान की भाषा है। एक प्रकार से यह मध्यदेश की प्राचीन भाषा का ही दक्षिण-पश्चिमी विकसित रूप है। इस विकास की अन्तिम सीढ़ी गुजराती है किंतु उस में भेदों की मात्रा अधिक हो गई है। राजस्थानी में मुख्य चार बोलियां हैं :—

(१) मेवाती-अहीरवाटी—यह अलवर राज्य में तथा देहली के दक्षिण में गुड़गाँव के आस-पास बोली जाती है।

(२) मालवी—इसका केन्द्र मालवा प्रदेश का वर्तमान इन्दौर राज्य है।

(३) जयपुरी-हाड़ौती—यह जयपुर, कोटा और बूँदी में बोली जाती है।

(४) मारवाड़ी-मेवाड़ी—यह जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर तथा उदयपुर राज्यों में बोली जाती है।

राजस्थानी भाषा बोलने वाले भूमिभाग में हिंदी भाषा ही साहित्यिक भाषा है। यह स्थान अभी तक राजस्थान की बोलियों में से किसी को नहीं मिल सका है। राजस्थानी का प्राचीन साहित्य प्रधानतया मारवाड़ी में है। पुरानी मारवाड़ी और गुजराती में बहुत कम भेद है। जिन के व्यवहार में राजस्थानी महाजनी लिपि में लिखी जाती है।

मारवाड़ियों के साथ महाजनी लिपि समस्त उत्तर भारत में फैल गई है। छपाई में देवनागरी लिपि का ही व्यवहार होता है।

६. **पश्चिमी हिंदी**—यह मनुस्मृति के 'मध्यदेश' की वर्तमान भाषा कही जा सकती है। मेरठ तथा बिजनौर के निकट बोली जानेवाली पश्चिमी हिंदी के ही एक रूप खड़ीबोली से वर्तमान साहित्यिक हिंदी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई है। इस की एक दूसरी बोली ब्रज-भाषा पूर्वी हिंदी की बोली अवधी के साथ कुछ काल पूर्व तक साहित्य के क्षेत्र में वर्तमान खड़ी बोली हिंदी का स्थान लिए हुए थी। इन दो बोलियों के अतिरिक्त पश्चिमी हिंदी में और भी कई बोलियां सम्मिलित हैं किंतु साहित्य की दृष्टि से ये विशेष ध्यान देने योग्य नहीं हैं। उत्तर-मध्य-भारत का वर्तमान साहित्य खड़ी बोली हिंदी में ही लिखा जा रहा है। पढ़े-लिखे मुसलमानों में उर्दू का प्रचार है।

७. **पूर्वी हिंदी**—जैसा की नाम से स्पष्ट है, पूर्वी हिंदी का क्षेत्र पश्चिमी हिंदी के पूर्व में पड़ता है। यह कुछ बातों में पश्चिमी हिंदी से मिलती है और कुछ में बिहारी भाषा से। व्याकरण के अधिकांश रूपों में इस का संबंध पश्चिमी हिंदी से है, किंतु कुछ विशेष लक्षण पूर्वी समुदाय की भाषाओं के भी मिलते हैं। पूर्वी हिंदी भाषा में तीन मुख्य बोलियां हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी बोली का दूसरा नाम कोसली भी है। कोसल अवध का प्राचीन नाम था। तुलसीदास जी के समय से श्री रामचंद्र जी के यशोगान में प्रायः अवधी का ही प्रयोग होता रहा है। जैन-धर्म के प्रवर्त्तक महावीर जी ने अपने धर्म का प्रचार करने में यहां की ही प्राचीन बोली अर्द्ध-मागधी का प्रयोग किया था। बहुत सा जैन-साहित्य अर्द्ध मागधी प्राकृत में है। अवधी और बघेली भाषा में साहित्य बहुत है। पूर्वी हिंदी प्रायः देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और छपाई में तो सदा इसी का प्रयोग होता है।

लिखने में कभी-कभी कैथी लिपि भी काम में आती है। अपने प्राचीन रूप अर्द्ध-मगाधी प्राकृत के समान पूर्वी हिंदी अब भी बीच की भाषा है। इस के पश्चिम में शौरसेनी प्राकृत का नया रूप पश्चिमी हिंदी है और पूर्व में मागधी प्राकृत की स्थानापन्न बिहारी भाषा है।

८. बिहारी—यद्यपि राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से बिहार का संबंध संयुक्त प्रांत से ही रहा है, किंतु उत्पत्ति की दृष्टि से यहां की भाषा बंगाली की बहिन है। बंगाली, उड़िया और आसामी के साथ इस की उत्पत्ति भी मागध अपभ्रंश से हुई है। हिंदी भाषा बिहारी की चचेरी बहिन कही जा सकती है। मागधी अपभ्रंश के बोले जाने वाले भूमि भाग में ही आजकल बिहारी बोली जाती है। बिहारी भाषा में तीन मुख्य बोलियां हैं—

(१) मैथिली, जो गंगा के उत्तर में दर्भंगा के आस-पास बोली जाती है।

(२) मगही, जिन का केंद्र पटना और गया समझना चाहिए।

(३) भोजपुरी, जो मुख्यतया संयुक्त प्रांत की गोरखपुर और बनारस कमिश्नरियों में तथा बिहार प्रांत के शाहाबाद, चंपारन और सारन ज़िलों में बोली जाती है।

इन में मैथली और मगधी एक-दूसरे के अधिक निकट हैं, किंतु भोजपुरी इन दोनों से भिन्न है। चैटर्जी महोदय भोजपुरी को मैथिली-मगही से इतना भिन्न मानते हैं कि ग्रियर्सन साहब की तरह वे इन तीनों को एक साथ रख कर बिहारी भाषा नाम देने को सहसा उद्यत नहीं हैं।[१] बिहारी तीन लिपियों में लिखी जाती है। छपाई में देवनागरी अक्षर व्यवहार में आते हैं तथा लिखने में साधारणतया कैथी लिपि

---

[१] चै०, बे० लै०, ४५२

का प्रयोग होता है। मैथिली ब्राह्मणों की एक अपनी लिपि अलग है जो मैथिली कहलाती है और बंगला अक्षरों से बहुत मिलती हुई है। बिहारी बोले जाने वाले प्रदेश में हिंदी ही साहित्यिक भाषा है। बिहार प्रांत में शिक्षा का माध्यम भी हिंदी ही है।

९. उड़िया—प्राचीन उत्कल देश अथवा वर्तमान उड़िया प्रांत में यह भाषा बोली जाती है। इस को उत्कली अथवा ओड़ी भी कहते हैं। उड़िया शब्द का शुद्ध रूप ओड़िया है। सब से प्रथम कुछ उड़िया शब्द तेरहवीं शताब्दी के एक शिलालेख में आए हैं। प्रायः एक शताब्दी के बाद का एक अन्य शिलालेख मिलता है जिस में कुछ वाक्य उड़िया भाषा में लिखे पाए गए हैं। इन शिलालेखों से विदित होता है कि उस समय तक उड़िया भाषा बहुत कुछ विकसित हो चुकी थी। उड़िया लिपि बहुत कठिन है। इस का व्याकरण बंगाली से बहुत मिलता जुलता है, इसलिए बंगाली के कुछ पंडित इसे बंगाली भाषा की एक बोली समझते थे, किंतु यह भ्रम था। बंगाली के साथ ही उड़िया भी मागधी अपभ्रंश से निकली है। बंगाली और उड़िया आपस में बहिनें हैं इन का संबंध मां-बेटी का नहीं है। उड़िया लोग बहुत काल तक विजित रहे हैं। आठ शताब्दी तक उड़ीसा में तैलंगों का राज्य रहा। अभी कुछ ही काल पूर्व तक नागपुर के भोंसले राजाओं ने उड़ीसा पर राज्य किया है। इन कारणों से उड़िया भाषा में तेलगू और मराठी शब्द बहुतायत से पाए जाते हैं। मुसलमानों और अंग्रेज़ी के कारण फ़ारसी और अंग्रेज़ी शब्द तो हैं ही। उड़िया साहित्य विशेष-तया कृष्ण संबंधी है।

१०. बंगाली—बंगाली भाषा गंगा के मुहाने और उस के उत्तर और पश्चिम के मैदानों में बोली जाती है। गाँव तथा नगर के बंगालियों की बोली में बहुत अंतर है। साहित्य की भाषा में संस्कृत

तत्सम शब्दों का प्रचार कदाचित् बंगाली में सब से अधिक है। उत्तरी, पूर्वी तथा पश्चिमी बंगाली में भेद है। पूर्वी बंगाली का केंद्र ढाका है। हुगली के निकट बोली जाने वाली पश्चिमी बंगाली का ही एक रूप वर्तमान साहित्यिक भाषा हो गया है। बंगाली उच्चारण की विशेषता 'अ' का 'ओ' तथा 'स' का श' कर देना प्रसिद्ध ही है। इस भाषा का साहित्य उत्तम अवस्था में है। बंगाली लिपि देवनागरी का ही एक रूपांतर है।

११. आसामी—जैसा इस के नाम से प्रकट है यह आसाम प्रदेश में बोली जाती है। वहां के लोग इसे असमिया कहते हैं। उड़िया की तरह आसामी भी बंगाली की बहिन है बेटी नहीं। यद्यपि आसामी व्याकरण बंगाली व्याकरण से बहुत भिन्न नहीं है, किंतु इन दोनों की साहित्यिक प्रगति पर ध्यान देने से इन का भेद स्पष्ट हो जाता है। आसामी भाषा के प्राचीन साहित्य की यह विशेषता है कि उस में ऐतिहासिक ग्रंथों की कमी नहीं है। अन्य भारती आर्य-भाषाओं में यह अभाव बहुत खटकता है। आसामी भाषा प्रायः बंगाली लिपि में लिखी जाती है, यद्यपि इस में कुछ सुधार अवश्य कर लिए गए हैं।

१२. मराठी—दक्षिण में महाराष्ट्री अपभ्रंश की पुत्री मराठी भाषा है यह बंबई प्रांत में पूना के चारों ओर, तथा बरार प्रांत और मध्य प्रांत के दक्षिण के नागपुर आदि चार ज़िलों में बोली जाती है। इसके दक्षिण में द्राविड़ भाषाएं हैं। इस की तीन मुख्य बोलियां हैं, जिन में से पूना के निकट बोली जानेवाली देशी मराठी साहित्यिक भाषा है। मराठी प्रायः देवनागरी लिपि में लिखी और छापी जाती है। नित्य के व्यवहार में 'मोड़ी' लिपि का व्यवहार होता है। इस का आविष्कार महाराज शिवाजी के (१६२७-८० ईसवी) सुप्रसिद्ध मंत्री बालाजी आवाजी ने किया था। मराठी का साहित्य विस्तीर्ण, लोकप्रिय तथा प्राचीन है।

१३. पहाड़ी भाषाएं—हिमालय के दक्षिण पार्श्व में नेपाल में पूर्वी पहाड़ी बोली जाती है। इस को नेपाली, पर्बतिया, गोरखाली और खस-कुरा भी कहते हैं। पूर्वी पहाड़ी भाषा का विशुद्ध रूप काठमंडू की घाटी में बोला जाता है। इस में कुछ नवीन साहित्य भी है। नेपाल राज्य की अधिकांश प्रजा की भाषाएं तिब्बती-चीनी वर्ग की हैं, जिन में नेवर जाति के लोगों की भाषा 'नेवारी' मुख्य है। नेपाल के राज दरबार में हिंदी भाषा का विशेष आदर है। नेपाली का अध्ययन जर्मन और रूसी विद्वानों ने विशेष किया है। यह देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है।

माध्यमिक पहाड़ी के दो मुख्य भेद हैं—(१) कुमाउनी जो, अल्मोड़ा नैनीताल के प्रदेश की बोली है, और (२) गढ़वाली, जो गढ़वाल राज्य तथा मसूरी के निकट पहाड़ी प्रदेश में बोली जाती है। इन दोनों बोलियों में साहित्यिक विशेष नहीं है। यहां के लोगों ने साहित्यिक व्यवहार के लिए हिंदी भाषा को ही अपना लिया है। ये देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती हैं।

पश्चिमी पहाड़ी भाषा की भिन्न-भिन्न बोलियां सरहिंद के उत्तर शिमला के निकटवर्ती प्रदेश में बोली जाती हैं। इन बोलियों का कोई सर्वमान्य मुख्य रूप नहीं है, न इन में साहित्य ही पाया जाता है। इस प्रदेश में तीस से अधिक बोलियों का पता चला है, जिनमें संयुक्त-प्रांत के जौनसार-बावर प्रदेश की बोली जौनसारी, शिमला पहाड़ की बोली क्योंथली कुलू प्रदेश की कुलूई और चंबा राज्य की चंबाली मुख्य है। चंबाली बोली की लिपि भिन्न है। शेष टाकरी या ठक्करी लिपि में लिखी जाती हैं।

वर्तमान पहाड़ी भाषाएं राजस्थानी से बहुत मिलती हैं। विशेषतया माध्यमिक पहाड़ी का संबंध जयपुरी से और पश्चिमी पहाड़ी का संबंध

मारवाड़ी से अधिक मालूम होता है। पश्चिमी तथा मध्य पहाड़ी प्रदेश का प्राचीन नाम सपादलक्ष था। पूर्व-काल में सपादलक्ष में गूजर आकर बस गए थे। बाद को ये लोग पूर्व राजस्थान की ओर चले गए थे। मुसल्मान-काल में बहुत से राजपूत फिर सपादलक्ष में आ बसे थे। जिस समय सपादलक्ष की खस जाति ने नेपाल को जीता था, तब इन खस विजेताओं के साथ यहां के राजपूत और गूजर भी शामिल थे। इस संपर्क के कारण ही राजस्थानी और पहाड़ी भाषाओं में कुछ समानता पाई जाती है।

———

४. हिंदी भाषा तथा बोलियां

क. हिंदी के आधुनिक साहित्यिक रूप

१. हिंदी—संस्कृत की स ध्वनि फ़ारसी में ह के रूप में पाई जाती है, अतः संस्कृत के 'सिंधु' और 'सिंधी' शब्दों के फ़ारसी रूप 'हिंद' और 'हिंदी' हो जाते हैं। प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से 'हिंदवी' या 'हिंदी' शब्द फ़ारसी भाषा का ही है। संस्कृत, प्राकृत अथवा आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के किसी भी प्राचीन ग्रंथ में इस का व्यवहार नहीं किया गया है। फ़ारसी में 'हिंदी' का शब्दार्थ 'हिंद से संबंध रखने वाला' है, किंतु इस का प्रयोग 'हिंद के रहनेवाले' अथवा 'हिंद की भाषा' के अर्थ में होता रहा है। 'हिंदी' शब्द के अतिरिक्त फ़ारसी से ही 'हिंदू' शब्द भी आया है। हिंदू शब्द का व्यवहार फ़ारसी में 'इस्लाम धर्म के न माननेवाले हिंदवासी' के अर्थ में प्रायः मिलता है। इसी अर्थ के साथ यह शब्द अपने देश में प्रचलित हो गया है।

शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिंदी' शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जानेवाली किसी भी आर्य, द्राविड़ अथवा अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है, किंतु आजकल वास्तव में इस का व्यवहार उत्तर-भारत के मध्य-देश के हिंदुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया, तथा इसी भूमि-भाग की बोलियों और उन से संबंध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भूमि-भाग की सीमाएं पश्चिम में जैसलमीर, उत्तर-पश्चिम से अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का

दक्षिणी भाग पूर्व में भागलपुर, दक्षिण-पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती हैं। इस भूमि-भाग में हिंदुओं के आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोलचाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एकमात्र खड़ी बोली हिंदी ही है। साधारणतया 'हिंदी' शब्द का प्रयोग जनता में इसी भाषा के अर्थ में किया जाता है किंतु साथ ही इस भूमिभाग की ग्रामीण बोलियों—जैसे मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, मैथिली आदि को तथा प्राचीन ब्रज, अवधी आदि साहित्यिक भाषाओं को भी हिंदी भाषा के ही अंतर्गत माना जाता है। इस समस्त भूमिभाग की जन-संख्या लगभग ११ करोड़ है।

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से ऊपर दिये हुए भूमि भाग में तीन-चार भाषाएं मानी जाती हैं। राजस्थान की बोलियों के समुदाय को 'राजस्थानी' के नाम से पृथक भाषा माना गया है। बिहार की मिथिला और पटना-गया की बोलियों तथा संयुक्त-प्रांत की बनारस-गोरखपुर कमिश्नरी की बोलियों के समूह को एक भिन्न 'बिहारी' भाषा माना जाता है। उत्तर के पहाड़ी प्रदेशों की बोलियां भी 'पहाड़ी भाषाओं' के नाम से पृथक मानी जाती हैं। इस तरह से भाषा-शास्त्र के सूक्ष्म भेदों की दृष्टि से 'हिंदी' भाषा की सीमाएं निम्नलिखित रह जाती हैं :—उत्तर में तराई, पश्चिम में पंजाब के अंबाला और हिसार के ज़िले तथा पूर्व में फ़ैज़ाबाद, प्रतापगढ़ और इलाहाबाद के ज़िले। दक्षिण की सीमा में कोई परिवर्तन नहीं होता और रायपुर तथा खंडवा पर ही यह जाकर ठहरती है। इस भूमिभाग में हिंदी के दो उप-रूप माने जाते हैं, जो पश्चिमी और पूर्वी हिंदी के नाम से पुकारे जाते हैं। हिंदी की इस पश्चिमी और पूर्वी बोलियों के बोलनेवालों की संख्या लगभग ६½ करोड़ है। भाषा-शास्त्र से संबंध रखनेवाले ग्रंथों में 'हिंदी भाषा' का शब्द का प्रयोग इसी भूमिभाग की बोलियों तथा उन की आधारभूत साहित्यिक भाषाओं के अर्थ में होता है।

हिंदी शब्द के शब्दार्थ साधारण प्रचलित अर्थ, तथा शास्त्रीय अर्थ के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

२. उर्दू—आधुनिक साहित्यिक हिंदी के उस दूसरे साहित्यिक रूप का नाम उर्दू है जिस का व्यवहार उत्तर-भारत के समस्त पढ़े-लिखे मुसलमानों तथा उन से अधिक संपर्क में आनेवाले कुछ हिंदुओं जैसे पंजाबी, देसी काश्मीरी तथा पुराने कायस्थों आदि में पाया जाता है। व्याकरण के रूपों की दृष्टि से इन दोनों साहित्यिक भाषाओं में विशेष अंतर नहीं है, वास्तव में दोनों का मूलाधार एक ही है, किंतु साहित्यिक वातावरण, शब्द-समूह, तथा लिपि में दोनों में आकाश-पाताल का भेद है। हिंदी इन सब बातों के लिए भारत की प्राचीन संस्कृत तथा उस के वर्तमान रूप की ओर देखती है; उर्दू भारत के वातावरण में उत्पन्न होने और बढ़ाने पर भी ईरान और अरब की सभ्यता और साहित्य से जीवन-श्वास ग्रहण करती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्यिक खड़ी-बोड़ी हिंदी की अपेक्षा खड़ी-बोली उर्दू का व्यवहार पहले होने लगा था। भारतवर्ष में आने पर बहुत दिनों तक मुसल्मानों का केंद्र देहली रहा, अतः फ़ारसी, तुर्की और अरबी बोलनेवाले मुसल्मानों ने जनता से बात चीत और व्यवहार करने के लिये धीरे-धीरे देहली के अड़ोस-पड़ोस की बोली सीखी। इस बोली में अपने विदेशी शब्द-समूह को स्वतंत्रता-पूर्वक मिला लेना इन के लिए स्वाभाविक था। इस प्रकार की बोली का व्यवहार सब से प्रथम 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अर्थात् देहली के महलों के बाहर 'शाही फ़ौजी बाज़ारों' में होता था अतः इसी से देहली के पड़ौस की बोली के इस विदेशी शब्दों से मिश्रित रूप का नाम 'उर्दू' पड़ा। तुर्की भाषा में 'उर्दू' शब्द का अर्थ बाज़ार है। वास्तव में आरंभ में उर्दू बाज़ारू भाषा थी। शाही दरबार से संपर्क में आनेवाले हिंदुओं का इसे अपनाना स्वाभाविक

था क्योंकि फ़ारसी-अरबी शब्दों से मिश्रित किंतु अपने देश की एक बोली में इन भिन्न भाषा-भाषी विदेशियों से बातचीत करने में इन्हें सुविधा रहती होगी। जैसे ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने पर भारतीय भाषाएं बोलने वाले भारतीय अंग्रेज़ी से अधिक प्रभावित होने लगते हैं उसी तरह मुसल्मान धर्म ग्रहण कर लेनेवाले हिंदुओं में भी फ़ारसी के बाद उर्दू का विशेष आदर होना स्वाभाविक था। धीरे-धीरे यह उत्तर भारत की शिष्ट मुसल्मान जनता की अपनी भाषा हो गई। शासकों द्वारा अपनाए जाने के कारण यह उत्तर भारत के समस्त शिष्ट-समुदाय की भाषा मानी जाने लगी। जिस तरह आज कल पढ़े लिखे हिंदुस्तानी के मुंह से 'मुझे चांस (Chance) नहीं मिला' निकलता है, उसी तरह उस समय 'मुझे मौक़ा नहीं मिला' निकलता होगा। जनता इसी को 'मुझे अवसर या औसर नहीं मिला' कहती होगी, और अब भी कहती है। उर्दू का जन्म तथा प्रचार इसी प्रकार हुआ।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि उर्दू का मूलाधार देहली के निकट की खड़ी बोली है। यही बोली आधुनिक साहित्यिक हिंदी की भी मूलाधार है। अतः जन्म से उर्दू आधुनिक साहित्यिक हिंदी सगी बहनें हैं। विकसित होने पर इन दोनों में जो अंतर हुआ उसे रूपक में यों कह सकते हैं कि एक तो हिंदुआनी बनी रही और दूसरी ने मुसल्मान धर्म ग्रहण कर लिया।

एक अंग्रेज़ विद्वान् ग्रैहम बेली महोदय ने उर्दू की उत्पत्ति के संबंध में एक नया विचार रक्खा है। उनकी समझ में उर्दू की उत्पत्ति देहली में खड़ी बोली के आधार पर नहीं हुई, बल्कि इस के पहले ही पंजाबी के आधार पर यह लाहौर के आस-पास बन चुकी थी और देहली में आने पर मुसल्मान शासक इसे अपने साथ ही लाए थे। खड़ीबोली के प्रभाव से इस में बाद को कुछ परिवर्तन अवश्य हुए किंतु इस का मूलाधार पंजाबी को मानना चाहिए खड़ीबोली को नहीं। इस संबंध में बेली

महोदय का सब से बड़ा तर्क यह है कि देहली को शासन केंद्र बनाने के पूर्व १००० से १२०० ई० तक लगभग दो सौ वर्ष मुसल्मान पंजाब में रहे। उस समय वहां की जनता से संपर्क में आने के लिए उन्होंने कोई न कोई भाषा अवश्य सीखी होगी और यह भाषा तत्कालीन पंजाबी ही हो सकती है। यह स्वाभाविक है कि भारत में आगे बढ़ने पर वे इसी भाषा का प्रयोग करते रहे हों। बिना पूर्ण खोज के उर्दू की उत्पत्ति के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस समय सर्व-सम्मत यही है कि उर्दू तथा आधुनिक साहित्यिक हिंदी दोनों की मूलाधार दिल्ली-मेरठ की खड़ी बोली ही है।

उर्दू का साहित्य में प्रयोग दक्षिण के मुसल्मानी दरबारों से आरंभ हुआ। उस समय तक दिल्ली-आगरा के दरबार में साहित्यिक भाषा का स्थान फ़ारसी को मिला हुआ था। साधारण जन-समुदाय की भाषा होने के कारण अपने घर पर उर्दू हेय समझी जाती थी। हैदराबाद रियासत की जनता की भाषाएं भिन्न द्राविड़ वंश की थीं, अतः उन के बीच में यह मुसल्मानी आर्यभाषा, शासकों की भाषा होने के कारण, विशेष गौरव की दृष्टि से देखी जाने लगी, इसी लिए उस का साहित्य में प्रयोग करना बुरा नहीं समझा गया। औरंगाबादी वली उर्दू साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। वली के क़दमों पर ही मुग़ल-काल के उत्तरार्द्ध में दिल्ली और उस के बाद लखनऊ के मुसल्मानी दरबारों में भी उर्दू भाषा में कविता करनेवाले कवियों का एक समुदाय बन गया, जिस ने इस बाज़रू बोली को साहित्यिक भाषाओं के सिंहासन पर बैठा दिया। फ़ारसी शब्दों के अधिक मिश्रण के कारण कविता में प्रयुक्त उर्दू को 'रेख़्ता' (शब्दार्थ मिश्रित') कहते हैं। स्त्रियों की भाषा 'रेख़्ती' कहलाती है। दक्षिणी मुसल्मानों की भाषा 'दक्खिनी' उर्दू कहलाती है। इस में फ़ारसी शब्द कम इस्तेमाल होते हैं और उत्तर भारत की उर्दू की अपेक्षा यह कम परिमार्जित है। ये सब उर्दू के रूप-रूपांतर हैं। हिंदी

भाषा के गद्य के समान, उर्दू भाषा का गद्य-साहित्य में व्यवहार अंग्रेजी शासन-काल में आरंभ हुआ। मुद्रणकला के साथ इस का प्रचार अधिक बढ़ा। उर्दू भाषा अरबी-फ़ारसी अक्षरों में लिखी जाती है। पंजाब संयुक्तप्रांत तथा राजस्थान के कुछ राज्यों में कचहरी, तहसील और गाँव में अब भी उर्दू में ही सरकारी कागज़ लिखे जाते हैं, अतः नौकरी पेशा हिंदुओं को भी इस की जानकारी प्राप्त करना अनिवार्य है। आगरा-दिल्ली की ओर हिंदुओं में इस का अधिक प्रचार होना स्वाभाविक है। पंजाबी भाषा में साहित्य न होने के कारण पंजाबी लोगों ने तो इसे साहित्यिक भाषा की तरह अपना रक्खा है। अब हिंदी भाषी प्रदेश में हिंदुओं के बीच में उर्दू का प्रभाव प्रति दिन कम हो रहा है।

३. हिंदुस्तानी—'हिंदुस्तानी' नाम यूरोपीय लोगों का दिया हुआ है। उर्दू का बोलचालवाला रूप हिंदुस्तानी कहलाता है। केवल बोलचाल में प्रयुक्त होने के कारण इस में फ़ारसी शब्दों की भरमार नहीं रहती यद्यपि इस का झुकाव फ़ारसी की तरफ़ अवश्य रहता है। उत्पत्ति की दृष्टि से आधुनिक साहित्यिक हिंदी तथा उर्दू के समान ही इस का आधार भी खड़ी बोली है। एक तरह से यह हिंदी-उर्दू की अपेक्षा खड़ीबोली के अधिक निकट है क्योंकि यह फ़ारसी संस्कृत के अस्वाभाविक प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त है। दक्षिण के ठेठ द्राविड़ प्रदेशों को छोड़ कर शेष समस्त भारत में उर्दू का यह व्यवहारिक रूप हर जगह समझ लिया जाता है। कलकत्ता, हैदराबाद, बंबई, कराची, जोधपुर, पेशावर, नागपुर, काश्मीर, लाहौर, दिल्ली, लखनऊ, बनारस, पटना आदि सब जगह हिंदुस्तानी बोली से काम निकल सकता है, अंतिम चार-पाँच स्थान तो इस के घर ही हैं।

साधारण श्रेणी के लोगों के लिए लिखे गए साहित्य में हिंदुस्तानी का प्रयोग पाया जाता है। ये किस्से, ग़ज़लों और भजनों आदि की बाज़ारू

किताबें फ़ारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में छापी जाती हैं। हिंदुस्तानी के समान ठेठ हिंदी में कुछ साहित्यिक पुरुषों ने लिखने का प्रयास किया है। इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' तथा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिंदी का ठाठ' तथा 'बोलचाल' ठेठ हिंदी के साहित्यिक बनाने के प्रयोग हैं जिस में ये सज्जन सफल नहीं हो सके।

इस पुस्तक में खड़ीबोली शब्द का प्रयोग दिल्ली-मेरठ के आसपास बोली जानेवाली गाँव की भाषा के अर्थ में किया गया है। भाषा-सर्वे में ग्रियर्सन महोदय ने इस बोली के 'वर्नाक्युलर हिंदुस्तानी' नाम दिया है। किंतु इसके लिए खड़ीबोली अथवा सिरहिंदी नाम अधिक उपयुक्त है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है हिंदी, उर्दू तथा हिंदुस्तानी या ठेठ हिंदी इन समस्त रूपों का मूलाधार यह खड़ीबोली ही है। कभी-कभी ब्रजभाषा तथा अवधी आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखलाने के आधुनिक साहित्यिक हिंदी के भी खड़ीबोली नाम से पुकारा जाता है[1] ब्रजभाषा और इस 'साहित्यिक खड़ीबोली हिंदी' का झगड़ा बहुत पुराना हो चुका है। साहित्यिक अर्थ में प्रयुक्त खड़ीबोली शब्द तथा भाषाशास्त्र की दृष्टि से प्रयुक्त खड़ीबोली शब्द के भेद के

---

[1] इस अर्थ में खड़ीबोली का सब से प्रथम प्रयोग लल्लू जी लाल ने प्रेमसागर की भूमिका में किया है। लल्लूजी लाल के ये वाक्य खड़ीबोली शब्द के व्यवहार पर बहुत कुछ प्रकाश डालते हैं, अतः ज्यों के त्यों नीचे उद्धृत किए जाते हैं। आधुनिक साहित्यिक हिंदी के आदि रूप का भी यह उद्धरण अच्छा नमूना है। लल्लूजी लाल लिखते हैं:—
"एक समै व्यासदेव कृत श्रीमत भागवत के दशमस्कंध की कथा के चतुर्भुज मिश्र ने दोहे चौपाई में ब्रजभाषा किया। सो पाठशाला के लिये श्री महाराजाधिराज, सकलगुणनिधान, पुण्यवान, महाजन

स्पष्ट-रूप से समझ लेना चाहिए। ब्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में खड़ी सी लगती है, कदाचित् इसी कारण इसका नाम खड़ी-बोली पड़ा। हिंदी-उर्दू भाषाएं साहित्यिक खड़ीबोली मात्र हैं। 'हिंदुस्तानी' शिष्ट लोगों के बोलचाल की कुछ परिमार्जित खड़ीबोली है।

ऊपर के विस्तृत विवेचन से हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी या ठेठ हिंदी तथा खड़ीबोली शब्दों के मूल अर्थ तथा शास्त्रीय अथ का भेद स्पष्ट हो गया होगा। हिंदी भाषा से संबंध रखनेवाले ग्रंथों में इन शब्दों का शास्त्रीय अर्थ में ही प्रयोग होता है।

ख. हिंदी की ग्रामीण बोलियां

ऊपर बतलाया जा चुका है कि 'मध्यदेश' की आठ मुख्य बोलियों के समुदाय को भाषाशास्त्र की दृष्टि से हिंदी नाम से पुकारा जाता है। इन में से खड़ीबोली बांगरू, ब्रज, कनौजी तथा बुंदेली इन पाँच को भाषा सर्वे में 'पश्चिमी हिंदी' नाम दिया गया है तथा अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी इन शेष तीन को 'पूर्वी हिंदी' नाम से पुकारा गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी हिंदी का संबंध शौरसेनी प्राकृत तथा पूर्वी हिंदी का संबंध अर्द्धमागधी प्राकृत से जोड़ा जाता है। भाषा-सर्वे के आधार पर इन आठ बोलियों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है। बिहार ठेठ बोलियों से बहुत-कुछ भिन्न होने तथा हिंदी से विशेष घनिष्ठ संबंध होने के कारण बनारस-गोरखपुर की

मारकुइस वलिजलि गवरनर जनरल प्रतापी के राज में श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जानगिलकिरिस्ट महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० ई० में श्री लल्लूजी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले ने विसका सार ले यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी-बोली में कह नाम प्रेमसागर धरा।"

भोजपुरी बोली का वर्णन भी हिंदी की इन आठ बोलियों के साथ ही दे दिया गया है।

१. खड़ीबोली—खड़ीबोली या सिरहिंदी पश्चिम रुहेलखड, गंगा के उत्तरी दोआब तथा अंबाला ज़िले की बोली है। हिंदी आदि से इस का संबंध बतलाया जा चुका है। मुसल्मानी प्रभाव के निकटतम होने के कारण ग्रामीण खड़ीबोली में भी फ़ारसी-अरबी के शब्दों का व्यवहार हिंदी की अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक है। किंतु ये प्रायः अर्द्धतत्सम अथवा तद्भव रूपों में प्रयुक्त होते हैं। इन्हीं को तत्सम रूप में प्रयुक्त करने से खड़ीबोली में उर्दू की झलक आने लगती है। खड़ीबोली निम्नलिखित स्थानों में गांवों में बोली जाती है :—रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अंबाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग। इस बोली के बोलनेवालों की संख्या ५३ लाख के लगभग है। इस संबंध में निम्नलिखित यूरोपीय देशों की जन-संख्या के अंक रोचक प्रतीत होंगे : ग्रीस ५४ लाख, बलगेरिया ४६ लाख, तथा तीन भाषाएं बोलनेवाला स्विटज़रलैंड ३६ लाख।

२. बांगरू—बांगरू बोली जाटू या हरयानी नाम से भी प्रसिद्ध है। यह दिल्ली, कर्नाल, रोहतक और हिसार ज़िलों और पड़ोस के पटियाला, नाभा और झींद रियासतों के गाँवों में बोली जाती है। एक प्रकार से यह पंजाबी और राजस्थानी मिश्रित खड़ीबोली है। बांगरू बोलने वालों की संख्या लगभग २२ लाख है। बांगरू बोली की पश्चिमी सीमा पर सरस्वती नदी बहती है। हिंदी-भाषी प्रदेश के प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र पानीपत तथा कुरुक्षेत्र इसी बोली की सीमा के अंतर्गत पड़ते हैं अतः इसे हिंदी की सरहदी बोली मानना अनुचित न होगा। वास्तव में यह खड़ीबोली का ही एक उपरूप है, और इस को हिंदी की स्वतंत्र बोली मानना चिंत्य है।

३. ब्रजभाषा—प्राचीन हिंदी साहित्य की दृष्टि से ब्रज की बोली की गिनती साहित्यिक भाषाओं में होने लगी इस लिए आदरार्थ यह ब्रजभाषा कह कर पुकारी जाने लगी। विशुद्ध रूप में यह बोली अब भी मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोली जाती है। गुड़गाँव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग में इस में राजस्थानी और बुंदेली की कुछ कुछ झलक आने लगती हैं। बुलंदशहर, बदायूं और नैनीताल तराई में खड़ीबोली का प्रभाव शुरू हो जाता है तथा एटा, मैनपुरी और बरेली ज़िलों में कुछ कनौजीपन आने लगता है। वास्तव में पीलीभीत तथा इटावा की बोली भी कनौजी की अपेक्षा ब्रजभाषा के अधिक निकट है। ब्रजभाषा बोलनेवालों की संख्या लगभग ७६ लाख है। तुलना के लिए नीचे लिखे जन-संख्या के अंक रोचक प्रतीत होंगे :—टर्की ८० लाख बेलिजियम ७७ लाख, हंगरी ७८ लाख, हालैंड ६८ लाख, आस्ट्रिया ६१ लाख तथा पुर्तगाल ६० लाख।

जब से गोकुल वल्लभसंप्रदाय का केंद्र हुआ तब से ब्रजभाषा में कृष्ण-साहित्य लिखा जाने लगा। धीरे-धीरे यह बोली समस्त हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई। १६ वीं शताब्दी में साहित्य के क्षेत्र में खड़ीबोली ब्रजभाषा की स्थानापन्न हुई।

४. कनौजी—कनौजी बोली का क्षेत्र ब्रजभाषा और अवधी के बीच में है। कनौजी को पुराने कनौज राज्य की बोली समझना चाहिए। वास्तव में यह ब्रजभाषा का ही एक उपरूप है। कनौजी का केंद्र फ़रुख़ाबाद है, किंतु उत्तर में यह हरदोई, शाहजहाँपुर तथा पीलीभीत तक और दक्षिण में इटावा तथा कानपुर के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। कनौजी बोलनेवालों की संख्या ४५ लाख है। ब्रजभाषा के पड़ोस में होने के कारण साहित्य के क्षेत्र में कनौजी कभी भी आगे नहीं आ सकी। इस भूमिभाग में प्रसिद्ध कविगण तो कई हुए किंतु इन सब

ने ब्रजभाषा में ही अपनी रचनाएं कीं। वास्तव में कनौजी कोई स्वतंत्र बोली नहीं है बल्कि ब्रजभाषा का ही एक उपरूप है।

५. बुंदेली—बुंदेली बुंदेलखंड की बोली है। शुद्ध रूप में यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल ओड़छा, सागर, नृसिंहपुर, सेओनी तथा हुशंगाबाद में बोली जाती है। इस के कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिंदवाड़ा के कुछ भागों में पाए जाते हैं। बुंदेली बोलने वालों की संख्या ६६ लाख के लगभग है। मध्य-काल में बुंदेलखंड साहित्य का प्रसिद्ध केंद्र रहा है, किंतु यहां होनेवाले कवियों ने भी ब्रजभाषा में ही कविता की है, यद्यपि इन की भाषा पर अपनी बुंदेली बोली का प्रभाव अधिक पाया जाता है। बुंदेली बोली और ब्रजभाषा में बहुत साम्य है। सच तो यह है कि ब्रज कन्नौजी तथ बुंदेली एक ही बोली के तीन प्रादेशिक रूप मात्र हैं।

६. अवधी—हरदोई ज़िले को छोड़ कर शेष अवध की बोली अवधी है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फ़ैज़ाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी में तो बोली ही जाती है किंतु इन ज़िलों के अतिरिक्त दक्षिण में गंगापार इलाहाबाद, फ़तेहपुर, कानपुर और मिर्ज़ापुर में तथा जौनपुर के कुछ हिस्से में भी बोली जाती है। बिहार के मुसलमान भी अवधी बोलते हैं। इस मिश्रित अवधी का विस्तार मुज़फ़्फ़रपुर तक है। अवधी बोलने वालों की संख्या लगभग १ करोड़ ४२ लाख है। ब्रजभाषा के साथ अवधी में भी कुछ साहित्य लिखा गया था, यद्यपि बाद को ब्रजभाषा की प्रतिद्वंद्विता में यह ठहर न सकी। 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' अवधी के दो सुप्रसिद्ध ग्रंथ रत्न हैं।

७. बघेली—अवधी के दक्षिण में बघेली का क्षेत्र है। इस का केंद्र रीवां राज्य है किंतु यह मध्यप्रांत के दमोह, जबलपुर, मांडला तथा

बालाघाट के ज़िलों तक फैली हुई है। बघेली बोलनेवालों की संख्या लगभग ४६ लाख है। जिस तरह बुंदेलखंड के कवियों ने ब्रजभाषा को अपना रक्खा था उसी तरह रीवां के दरबार में बघेली कविगण साहित्यिक भाषा के रूप में अवधी का आदर करते थे। नई खोज के अनुसार बघेली कोई स्वतंत्र बोली नहीं है बल्कि अवधी का ही दक्षिण रूप है।

८. छत्तीसगढ़ी—छत्तीसगढ़ी को लरिया या खल्ताही भी कहते हैं। यह मध्यप्रांत में रायपुर और बिलासपुर के ज़िलों तथा काँकेर, नंदगाँव, खैरगढ़, रायगढ़, कोरिया, सरगुजा, उदयपुर तथा जशपुर आदि राज्यों में भिन्न-भिन्न रूपों में बोली जाती है। छत्तीसगढ़ी बोलने वालों की संख्या लगभग ३३ लाख है जो डेनमार्क की जन-संख्या के बिल्कुल बराबर है। मिश्रित रूपों को मिला कर बोलनेवालों की संख्या ३८ लाख के लगभग हो जाती है जो स्विटज़रलैंड की जनसंख्या से टक्कर लेने लगती है। छत्तीसगढ़ी में पुराना साहित्य बिल्कुल नहीं है। कुछ नई बाज़ारू किताबें अवश्य छपी हैं।

९. भोजपुरी—बिहार के शाहाबाद ज़िले में भोजपुर एक छोटा सा क़स्बा और पर्गना है। इस बोली का नाम इसी स्थान से पड़ा है, यद्यपि यह दूर-दूर तक बोली जाती है। भोजपुरी बोली बनारस, मिर्ज़ापुर, जौनपुर, ग़ाज़ीपुर, बलिया; गोरखपुर, बस्ती, आज़मगढ़, शाहबाद, चंपारन, सारन तथा छोटा नागपुर तक फैली पड़ी है। बोलनेवालों की संख्या पूरे दो करोड़ के लगभग है। भोजपुरी में साहित्य कुछ भी नहीं है। संस्कृत का केंद्र होने के अतिरिक्त काशी हिंदी साहित्य का भी प्राचीन केंद्र रहा है किंतु भोजपुरी बोली से घिरे रहने पर भी इस बोली का प्रयोग साहित्य में कभी नहीं किया गया। काशी में रहते हुए भी कविगण प्राचीन काल में ब्रज तथा अवधी में और आधुनिक काल में साहित्यिक खड़ी बोली हिंदी में लिखते रहे हैं। भाषा-संबंधी कुछ साम्यों

को छोड़ कर शेष सब बातों में भोजपुरी प्रदेश बिहार की अपेक्षा हिंदी प्रदेश के अधिक निकट रहा है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संयुक्तप्रांत में चार मुख्य बोलियां बोली जाती हैं—अर्थात् मेरठ-बिजनौर की खड़ी बोली, मथुरा-आगरा की ब्रजभाषा, लखनऊ-फ़ैज़ाबाद की अवधी तथा बनारस-गोरखपुर की भोजपुरी। कनौजी ब्रजभाषा और अवधी के बीच की एक बोली है। देहली कमिश्नरी की बांगरू बोली हिंदी की सरहदी बोली है। संयुक्तप्रांत की झाँसी कमिश्नरी, मध्यभारत तथा हिंदुस्तानी मध्यप्रांत में बुंदेली, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी का क्षेत्र है, जिनके केंद्र क्रम से झाँसी, रीवां तथा रायपुर हैं इस संबंध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हिंदी क्षेत्र का विस्तार पश्चिम में राजस्थान तथा पूर्व में बिहार तक है अत: राजस्थानी तथा बिहारी भाषाओं को हिंदी की उपभाषा कहा जा सकता है और इन भाषाओं की बोलियों को भी एक प्रकार से हिंदी के अंतर्गत माना जा सकता है। राजस्थानी तथा बिहारी बोलियों का संक्षिप्त विवेचन ऊपर दिया जा चुका है।

५—हिंदी शब्दसमूह[1]

शब्दसमूह की दृष्टि से प्रत्येक भाषा एक प्रकार से खिचड़ी होती है। किसी भी भाषा के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने आदि विशुद्ध रूप में आज तक चली जाती है। भाषा के माध्यम की सहायता से दो व्यक्ति अथवा समुदाय अपने विचार एक दूसरे पर प्रकट करते हैं अतः भाषा का मिश्रित होना उस का स्वभाव ही समझना चाहिये। भाषा के संबंध में 'विशुद्ध' शब्द से केवल इतना ही तात्पर्य हो सकता है कि किसी विशेष काल अथवा देश में उस का वह विशेष रूप प्रचलित था या है। उन्हीं अवस्थाओं में वह भाषा विशुद्ध कहला सकती है। दूसरे देश अथवा उसी देश में दूसरे काल में उसी भाषा का रूप बदल जायगा और तब इस परिवर्तित रूप को ही 'विशुद्ध' की उपाधि मिल सकेगी। यदि भरतपुर के गाँव में आजकल 'का खन उतरे हे ह्यां' कहना विशुद्ध भाषा का प्रयोग करना है तो मेरठ ज़िले में इसी पर लोगों को हंसी आ सकती है। मेरठ में 'कब उत्रे थे ह्यां' ऐसा कहना ही शुद्ध भाषा का प्रयोग करना हो सकता है। भरतपुर के उसी गाँव में पाँच सौ वर्ष बाद यही बात किसी दूसरे 'विशुद्ध' रूप में कही जावेगी और पाँच सौ वर्ष पहले कदाचित् भिन्न 'विशुद्ध' रूप में कही जाती रही होगी। अतः अन्य समस्त भाषाओं के समान ही हिंदी शब्दसमूह में भी अनेक जीवित तथा मृत भाषाओं का संग्रह मौजूद है।

साधारणतया हिंदी शब्दसमूह तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

---

[1] चै० बे० लै०, § १११-१२३। ल० स०, भूमिका, पृ० १२७ इ०।

क. भारतीय आर्यभाषाओं का शब्दसमूह।
ख. भारतीय अनार्यभाषाओं से आए हुए शब्द।
ग. विदेशी भाषाओं के शब्द।

क. भारतीय आर्यभाषाओं का शब्दसमूह

१. तद्भव--हिंदी शब्दसमूह में सब से अधिक संख्या उन शब्दों की है जो प्राचीन आर्यभाषाओं से मध्यकालीन भाषाओं में होते हुए चले आ रहे हैं। वैयाकरणों की परिभाषा में ऐसे शब्दों को 'तद्भव' कहते है, क्योंकि ये संस्कृत से उत्पन्न माने जाते थे। इन में से अधिकांश का संबंध संस्कृत शब्दों से अवश्य जोड़ा जा सकता है, किंतु जिन शब्दों का संबंध संस्कृत से नहीं जुड़ता उन में ऐसे शब्द भी हो सकते हैं जिन का उद्गम प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ऐसे शब्दों से हुआ हो जिन का व्यवहार इस के साहित्यिक रूप संस्कृत में न होता हो। अतः तद्भव शब्द का संस्कृत शब्द से संबंध निकल आना अनिवार्य नहीं है। इस श्रेणी के शब्द प्रायः मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में होकर हिंदी तक पहुँचे हैं, अतः इन में से अधिकांश के रूपों में बहुत परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। जनता की बोलियों में तद्भव शब्द बहुत बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। साहित्यिक हिंदी में इन को संख्या कम होती जाती है क्योंकि ये गँवारू समझे जाते हैं। वास्तव में ये असली हिंदी शब्द हैं और इन के प्रति विशेष ममता होनी चाहिए। कृष्ण की अपेक्षा कान्हा या कन्हैया हिंदी का अधिक सच्चा शब्द है।

२. तत्सम—साहित्यिक हिंदी में तत्सम अर्थात् प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के साहित्यिक रूप अर्थात् संस्कृत के विशुद्ध शब्दों की संख्या सदा से अधिक रही है। आधुनिक साहित्यिक भाषा में तो यह संख्या और भी अधिक बढ़ती जा रही है। इस का कारण कुछ तो भाषा की

नवीन आवश्यकताएं हैं किंतु अधिकतर विद्वत्ता प्रकट करने की आकांक्षा इस के मूल में रहती है। अधिकांश तत्सम शब्द आधुनिक काल में हिंदी में आए हैं। कुछ तत्सम शब्द ऐसे भी हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से तद्भव शब्दों के बराबर ही प्राचीन हैं किंतु ध्वनियों की दृष्टि से सरल होने के कारण इन में परिवर्तन करने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ी। जो संस्कृत शब्द आधुनिक काल में विकृत हुए हैं वे 'अर्द्धतत्सम' कहलाते हैं, जैसे कान्ह तद्भव रूप है किंतु किशन अर्द्धतत्सम रूप है, क्योंकि संस्कृत कृष्ण को लेकर यह आधुनिक समय में ही बिगाड़ कर बनाया गया है।

बंगला, मराठी, पंजाबी आदि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से आए हुए शब्द हिंदी में बहुत कम हैं क्योंकि हिंदी भाषी लोगों ने संपर्क में आने पर भी इन भाषाओं को बोलने का कभी उद्योग नहीं किया। इन अन्य भाषाओं के शब्दसमूह पर हिंदी की छाप अधिक गहरी है।

ख. भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्द

हिंदी के तत्सम और तद्भव शब्दसमूह में बहुत से शब्द ऐसे हैं जो प्राचीन काल में अनार्य भाषाओं से तत्कलीन आर्यभाषाओं में ले लिए गए थे। हिंदी के लिये ये वास्तव में आर्यभाषा के ही शब्दों के समान हैं। प्राकृत वैयाकरण जिन प्राकृत शब्दों को संस्कृत शब्दसमूह में नहीं पाते थे उन्हें 'देशी' अर्थात् अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्द मान लेते थे। इन वैयाकरणों ने बहुत से बिगड़े हुए तद्भव शब्दों को भी देशी समझ रक्खा था। तामिल, तेलगू, आदि द्राविड़ या मुंडा, कोल आदि अन्य अनार्य भाषाओं से आधुनिक काल में आए हुए शब्द हिंदी में बहुत कम हैं।

द्राविड़ भाषाओं से आए हुए शब्दों का प्रयोग हिंदी में प्रायः बुरे

अर्थों में होता है। द्राविड़ 'पिल्लै' शब्द का अर्थ पुत्र होता है, वही शब्द हिंदी में 'पिल्ला' होकर कुत्ते के बच्चे के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मूर्द्धन्य वर्णों से युक्त शब्द यदि सीधे द्राविड़ भाषाओं से नहीं आए हैं तो कम से कम उन पर द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव तो बहुत ही पड़ा है। मूर्द्धन्य वर्ण द्राविण भाषाओं की विशेषता है। कोल भाषाओं का हिंदी पर प्रभाव उतना स्पष्ट नहीं है। हिंदी में बीस-बीस करके गिनने की प्रणाली कदाचित् कोल भाषाओं से आई है। कोड़ी शब्द स्वयं कोल भाषाओं से आया मालूम पड़ता है। इस तरह के कुछ शब्द और भी हैं।[1]

ग. विदेशी भाषाओं के शब्द

सैकड़ों वर्षों से विदेशी शासन में रहने के कारण हिंदी पर कुछ विदेशी भाषाओं का प्रभाव भारतीय भाषाओं की अपेक्षा भी अधिक पड़ा है। यह प्रभाव दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मुसल्मानी प्रभाव, (२) यूरोपीय प्रभाव। किंतु दोनों प्रकार के प्रभाव में सिद्धान्त के रूप से बहुत कुछ समानता है। मुसल्मानों तथा अंग्रेज़ों दोनों के शासक होने के कारण एक ही ढंग का शब्दसमूह इन की भाषाओं से हिंदी में आया है। विदेशी शब्दों को हम दो मुख्य श्रेणियों में रख सकते हैं—

(क) विदेशी संस्थाओं जैसे कचहरी, फ़ौज, स्कूल, धर्म आदि से संबंध रखने वाले शब्द।

(ख) विदेशी प्रभाव के कारण आई हुई नई वस्तुओं के नाम, जैसे नए पहनावे, खाने, यंत्र तथा खेल आदि की वस्तुओं के नाम।

---

[1] बंगाली में प्रयुक्त टवर्ग से युक्त देशी शब्दों के लिए देखिए, चै०, बे० लै०, § २६८-२७२

१. फ़ारसी, अरबी, तुर्की तथा पश्तो शब्द—१००० ई० के लगभग फ़ारसी बोलनेवाले तुर्कों ने पंजाब पर कब्ज़ा कर लिया था अतः इन के प्रभाव से तत्कालीन हिंदी प्रभावित होने लगी थी। रासो तक में फ़ारसी शब्दों की संख्या कम नहीं है। १२०० ई० के बाद लगभग ६०० वर्ष तक हिंदी-भाषी जनता पर तुर्क, अफ़ग़ान, तथा मुग़लों का शासन रहा अतः इस समय सैकड़ों विदेशी शब्द गाँव की बोली तक में घुस आए। तुलसी और सूर जैसे वैष्णव महाकवियों की विशुद्ध हिंदी भी विदेशी शब्दों के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी। हिंदी में प्रचलित विदेशी शब्दों में सब से अधिक संख्या फ़ारसी शब्दों की है; क्योंकि समस्त मुसल्मान शासकों ने, चाहे वे किसी भी नसल के क्यों न हों, फ़ारसी को ही दरबारी तथा साहित्यिक भाषा की तरह अपना रक्खा था। अरबी तथा तुर्की[1] आदि के जो शब्द हिंदी में मिलते हैं वे फ़ारसी से होकर ही हिंदी में आए हैं।

२. यूरोपीय भाषाओं के शब्द—लगभग १५०० ई० से यूरोप के लोगों का भारत में आना-जाना प्रारंभ हो गया था, किंतु क़रीब तीन सौ वर्ष तक हिंदी-भाषी इन के संपर्क में अधिक नहीं आए क्योंकि यूरोपीय लोग समुद्र के रास्ते से भारत में आए थे अतः इन का कार्य-क्षेत्र प्रारंभ में समुद्रतट-वर्ती प्रदेशों में ही विशेष रहा। इसी कारण प्राचीन हिंदी साहित्य में यूरोपीय भाषाओं के शब्द नहीं के बराबर

---

[1] हिंदुस्तान के ग़ज़नी, ग़ोर और ग़ुलाम आदि आरंभ के वंशों के मुसल्मानी बादशाहों तथा भारतीय मुग़ल साम्राज्य के संस्थापक बाबर की मातृभाषा मध्य-एशिया की तुर्की भाषा थी। टर्की की तुर्की इसी तुर्की की एक शाखा मात्र है। इस्लाम धर्म तथा ईरानी सभ्यता के प्रभाव के कारण इन तुर्की बोलनेवाले बादशाहों के समय में भी उत्तर-भारत में इस्लामी साहित्य की भाषा फ़ारसी और इस्लामी धर्म की

हैं। १८०० ई० के लगभग हिंदी-भाषी प्रदेश मुग़लों के हाथ से निकल कर अंग्रेज़ी शासन में चला गया। गत सौ सवा सौ वर्षों में हिंदी-शब्द समूह पर अंग्रेज़ी भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है[1]।

भाषा अरबी रही, तो भी भारतीय फ़ारसी पर तथा उस के द्वारा आधुनिक आर्यभाषाओं पर तुर्की शब्दसमूह का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। हिंदी में प्रचलित तुर्की शब्दों की एक सूची नीचे दी जा रही है :—

आक़ा (मालिक), उजबक, (मूर्ख), उर्दू, कलगी, कैंची, क़ाबू क़ुली, कोर्मा, ख़ातून (स्त्री), ख़ां, ख़ानुम, (स्त्री), गलीचा, चकमक (पत्थर), चाक़ू, चिक, तमग़ा, तगार, तुरुक, तोप, दरोग़ा, बख़्शी, बावर्ची, बहादुर, बीबी, बेगम, बकचा, मुचलका, लाश, सौगात, सुराक़ची, (जैसे मशालची, ख़ज़ांची इत्यादि)।

पठान और रोहिला (रोह=पहाड़) शब्द पश्तो के हैं।

[1] हिंदी के विदेशी शब्दसमूह में फ़ारसी के बाद अंग्रेज़ी शब्दों की संख्या सब से अधिक है। अब भी नए अंग्रेज़ी शब्द आ रहे हैं। अतः इन की पूर्ण सूची बन सकना अभी संभव नहीं है। तो भी अंग्रेज़ी विदेशी शब्दों की एक विस्तृत सूची नीचे दी जा रही है। इन शब्दों में से कुछ तो गाँवों तक में पहुंच गए हैं। इस सूची में बहुत से शब्द ऐसे भी हैं जो, अंग्रेज़ी संस्थाओं या अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों से संपर्क में आने के कारण केवल शहरों के रहनेवाले बेपढ़े लोगों के मुँह से ही सुन पड़ते हैं। कुछ शब्द कई रूपों में व्यवहृत होते हैं, किंतु उन का अधिक प्रचलित रूप ही दिया गया है।

अंजन, अकटूबर, अगिन (?) बोट, अगस्त, अटेलियन, अपर-प्रैमरी, अपील, अप्रैल, अफ़सर, अमरीका, अर्दली, अलबम, अस्पताल, अस्तबल, असंबली।

संपर्क में आने पर भी आवश्यक विदेशी शब्दों को अछूत-सा मान कर न अपनाना अस्वाभाविक है। यत्न करने पर भी यह कभी संभव नहीं

आइलैंड, आपरेशन, आर्डर, आफ़िस।

इंसपकटर, इंच, इंजीयिर, इंटर, इंट्रैंस, इटली, इनकमटैकस, इस्टेचर, इस्प्रेस, इस्काउट, इस्काटलैंड, इस्कूल, इस्पिरिट, इस्पेन, इस्पेशल, इस्टूल, इस्टीमर, इस्क्रू, इस्प्रिंग, इस्टाम, इस्पीच, इस्पेलिंग, एजंट, एजंसी, एरन, ए० फ़े०, ए० मे०, एडवर्ड, ऐकट, ऐकटर, ऐकिंटक, ऐलवलाथ, ओवरकोट, ओवरसियर, औट।

कलट्टर, कमिश्नर, कमीशन, कंपनी, कलंडर, कंपौंडर, कफ़, कटपीस, कर्नैल, कमेटी, कंटूनमिंट, कस्टरऐल, कंपू, कान्फ्रेंस, कापी, कालर, काँजी, (?) हौज़, काग, कारड, कार्निस, कांग्रेस, कामा, कालिज, कानिस्टबल, क्वाटर, किलब; किरकिट, किलास, किलर्क, किलिप, कुल्तार, कुइला, कूपन, कुनैन, केक, केतली, कैच, (--औट), कोट, कोरम, कोरट, कोको-जम, (कोको—पुर्तगाली), कोको, कोचवान, कौंसिल।

गज़ट, गर्डर, गाटर, गार्ड, गिरमिट, गिलास, गिलट, गिन्नी, गोपाल, (वार्निस), गेट, गेटिस, गैस, गौन।

घासलेटी।

चाक, चाकलेट, चिमनी, चिक, चिट, चुरट, (तामिल—शुरुट्ट), चेर, चेरमैन, चैन।

जंटलमैन, जंट, जंपर, जमनास्टिक, जज, जर्मनी, जर्नैल, जनवरी, जर्नल मर्चंट, जाकट, जार्ज, जुलाई, जून, जेल, जेलर।

टन, टब, ट्रंक, ट्राली, ट्राइस्किल, ट्रांबे, टिकट, टिकस, टिमाटर, टिंपरेचर, टिफिन, टीम, टीन, टुइल, ट्यूब, टेम, टेनिस, टेबिल, टेसन, टेलीफून, ट्रेन, टैर, टैप, टैमटेबिल, टोल, टौनहाल।

हो सका है। अनावश्यक विदेशी शब्दों का प्रयोग करना दूसरी अति है। मध्यम मार्ग यही है कि अपनी भाषा के ध्वनि-समूह के आधार पर विदेशी शब्दों के रूपों में परिवर्तन करके उन्हें आवश्यकतानुसार सदा

ठेठर।

डबल, डबलमार्च, डंबल, डाकटर, ड्रामा, डायरी, डिक्शनरी, डिप्टी, डिस्टिकबोर्ड, डिगरी, डिरैवर, डिमारिज, डिकस, डिपलोमा, डिउटी, ड्रिल, डीपो, डेरी, डैमनकाट, डौन।

तारकोल।

थर्ड, थर्मामेटर।

दर्जन, दलेल, (ड्रिल), दराज, दिसंबर।

नर्स, नकटाई, नवंबर, नंबर, नाविल, निकर, निब, निकलस, नोट, नोटिस, नोटबुक।

पसिंजर, पल्टन, परेड, पलस्तर, पतलून, पंचर, पंप, पाकट, पारक, पालिस, पार्टी, पापा, पाट, पार्सल, पास, प्राइमरी, पिलाट, पिलीडर, पिंसन पिंसिल, पियानो, पिलेट, पिलेट फ़ारम, पिट्रोल, पिन, पिपरमेंट, पिलेन, पुल्टिस, पुरफेसर, पुलिस, पुर्तगाल, पुटीन, पेटीकोट, प्रेस, प्रेसीडेंट, पैसा, पैप, पैंट, पैटमैन, पोलो, पोसकाट, पौंड, पौडर।

फर्मा, फर्स्ट, फलालैन, फरवरी, फरलाँग, फारम, फिरांस, फिनैल, फिटन, फिराक, फीस, फुटबाल, फुलबूट, फुट, फेल, फ्रेम, फैर, फैसन फैसनेबिल, फोटो, फोटोगिराफी, फोनोग्राफ।

बंक, बम, बटेलियन, बरांडी, बटन, बकस, बग्घी, बंबूकाट, बनयाइन, बाडिस, बारिक, बालिस्टर, बास्कट, बिल्टी, बिलाटिंग, बिगुल, बिरजिस, बिरटिस, बिरग, बियूबिलैक, बिंच, बी० ए०, बुकसेलर बुलडाग, बुरुस, बूट, बैंड, बैरंग, बैस्कोप, बैस्किल, बैट, बैरा, बोट, बोरड, बोडिंग।

मिलाते रहना चाहिए। इस प्रकार शुद्धि करने के उपरांत लिए गए विदेशी शब्द जीवित भाषाओं के शब्द भंडार को बढ़ाने में सहायक ही होते हैं।

मसीन, मजिस्ट्रेट, मनीबेग, मनीआर्डर, मई, मन, मफलर, मलेरिया, मसीनगन, मनेजर, मटन, माचिस, मास्टर, मार्च, मानीटर, मारकीन, मिस, मिनीसुपिल्टी, मिनट, मिस्मरेजम, मिल, मिसनरी, मिकसचर, मीटिंग, मेजर, मेंबर, मेट, मेम, मोटर।

रंगरूट, रबड़, रसीद, रपट, रन, रजीमिंट, रासन, रिजिस्ट्री, रिजिस्टर, रिजिस्ट्रार, रिज़ल्ट, रिटाइर, रिवालवर, रिकार्ड, रिबिट, रीढर, रूल, रेजीडेन्सी, रेस, रेल, रैकेट रैफिल, रोड।

लंकलाट, लंप, लफटंट, लमलेट, लंबर, लवंडर, लंच, लाटरी, लाट, लाइब्रेरी, लालटैन, लान, लेट, लेटरबकस, लेकचर, लेबिल, लैंडो, लैन, लैनकिलियर, लैसंस, लैस, लैमचूस, लैमुनेड, सोट (नोट), लोकल, (गाड़ी), लोअर प्रैमरो।

वारनिश, वास्कट, वाइल, वारंट, वायलिन, वालंटियर, वाइसराय, विक्टोरिया, वी० पी०, वेटिंरूम, वोट, वैसलीन।

सम्मन, सर्जन, सरज, संटर जेल, संतरी सरकस, सब-(जज), सरविस, सार्टीफिकट, साइंस, सिगरट, सिलिंग, सिल्क, सिमिंट, सितंबर, सिकत्तर, सिंगल, सिलीपर, सिलेट, सिट, (बटन), सिविल, सर्जन, सुइटर, सुपरंडेंट, सूट, सूटकेस, सेशन, सेफटीपिन, सेकिंड, सैंपुल, सोप, सोडावाटर।

हरीकेन (लाल टेन), हाईकोर्ट, हाई इस्कूल, हारमुनियम, हाकी, हाल, हाल्ट, हाप साइड, हिट, हिस्टीरिया, ह्विस्की, हिब्रू, हुड, हुक, हुर्रे, हेडमास्टर, हैट, होलडर, होटस्ल, होमोपैथी।

कुछ पुर्तगाली[1], डच तथा फ़्रांसीसी[2] शब्द भी हिंदी ने ऐसे अपना लिए हैं कि वे सहसा विदेशी नहीं मालूम होते।

---

[1] हिंदी में कुछ पुर्तगाली शब्द भी आ गए हैं, किंतु इन की संख्या बहुत अधिक नहीं है। पुर्तगाली शब्दों का इतनी संख्या में भी हिंदी में पाया जाना आश्चर्यजनक है। हिंदी में प्रचलित पुर्तगाली शब्दों की सूची नीचे दी जा रही है :—

अनन्नास, अल्मारी, अचार, आलपीन, आया, इस्पात, इस्त्री, क़मीज़, कप्तान, कनिस्तर, कमरा, काज, काफ़ी, काजू, काकतुआ, क्रिस्तान, किरच, गमला, गारद, गिर्जा, गोभी, गोदाम, चाबी, तंबाकू, तौलिया, तौला, नीलाम, परात, परेक, पाउ (-रोटी), पादरी, पिस्तौल, पीपा, फ़र्मा, फ़ीता, फ्रांसीसी, वर्गा, बपतिस्मा, बालटी, बिसकुट, बुताम, बोतल, मस्तूल, मिस्त्री, मेज़, यशू, लबादा, संतरा, साया, सागू।

बंगाली भाषा में आने पर पुर्तगाली शब्दों के ध्वनिपरिवर्तन-संबंधी विस्तृत विवेचन के लिए देखिये, चै०, बे० लै०, अ० ७।

[2] पुर्तगाल के लोगों की अपेक्षा फ़्रांसीसियों से हिंदुस्तानियों का कुछ अधिक संपर्क रहा था किंतु फ़्रांसीसी शब्द हिंदी में दो चार से अधिक नहीं हैं। यही अवस्था डच भाषा के शब्दों की है। इन के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

फ़्रांसीसी—कार्तूस, कूपन, अंग्रेज़।

डच—तुरुप, बम (गाड़ी का)।

जर्मन आदि अन्य यूरोपियन भाषाओं के शब्द हिंदी में कदाचित् बिल्कुल नहीं हैं। कम से कम अभी तक पहचाने नहीं जा सके हैं। 'अल्पका' शब्द यदि अंग्रेज़ी से नहीं आया है तो स्पैनिश हो सकता है।

६. हिंदी भाषा का विकास

यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि १००० ईसवी के बाद मध्य-कालीन भारतीय आर्यभाषा के अंतिम रूप अपभ्रंश भाषाओं ने धीरे-धीरे बदल कर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का रूप ग्रहण कर लिया और गंगा की घाटी में प्रयाग या काशी तक बोली जानेवाली शौरसेनी और अर्द्धमागधी अपभ्रंशों ने हिंदी भाषा के समस्त प्रधान रूपों को जन्म दिया। गत एक सहस्र वर्ष में हिंदी भाषा किस तरह विकसित होती गई तथा उस के अध्ययन के लिए क्या सामग्री उपलब्ध है, इसी का यहां संक्षेप में वर्णन करना है।

हिंदी भाषा के विकास का इतिहास साधारणतया तीन मुख्य कालों में विभक्त किया जा सकता है :—

(क) प्राचीनकाल (११००-१५०० ई०), जब अपभ्रंश तथा प्राकृतों का प्रभाव हिंदीभाषा पर मौजूद था तथा साथ ही हिंदी की बोलियों के निश्चित स्पष्ट रूप विकसित नहीं हो पाए थे।

(ख) मध्यकाल (१५००-१८०० ई०), जब हिंदी से अपभ्रंशों का प्रभाव बिल्कुल हट गया था और हिंदी की बोलियां, विशेषतया व्रज और अवधी, अपने पैरों पर स्वतंत्रतापूर्वक खड़ी हो गई थीं।

(ग) आधुनिक काल (१८०० ई०—), जब से हिंदी की बोलियों के मध्य-काल के रूपों में परिवर्तन आरंभ हो गया है तथा साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से खड़ी बोली ने हिंदी की अन्य बोलियों को दबा दिया है।

इन तीनों कालों को क्रम से लेकर तत्कालीन परिस्थिति, भाषा-सामग्री तथा भाषा के रूप पर संक्षेप में नीचे विचार किया गया है।

क. प्राचीन काल[1] (११००-१५०० ई०)

हिंदीभाषा का इतिहास जिस समय प्रारभ होता है उस समय हिंदी प्रदेश तीन राज्यों में विभक्त था और इन्हीं तीन केंद्रों से हम हिंदी भाषा संबंधी सामग्री पाने की आशा कर सकते हैं। पश्चिम में चौहान वंश की राजधानी दिल्ली थी। पृथ्वीराज के समय में अजमेर का राज्य भी इस में सम्मिलित हो गया था। दिल्ली राज्य की सीमायें पश्चिम में पंजाब के मुसलमानी राज्य से मिली हुई थीं। दक्षिण-पश्चिम में राजस्थान के राजपूत राज्यों से इस की घनिष्ठता थी किंतु पूरब की सीमा पर सदा घरेलू युद्ध होते रहते थे। नरपति नाल्ह तथा चंद कवि का संबंध क्रम से अजमेर और दिल्ली से था। चौहान राज्य के पूर्व में राठौर वंश की राजधानी कन्नौज थी और इस राज्य की सीमायें अयोध्या तथा काशी तक चली गई थीं। कन्नौज के अंतिम सम्राट जयचंद का दरबार साहित्य चर्चा का मुख्य केंद्र था किंतु यहां 'भाषा' की अपेक्षा 'संस्कृत' तथा 'प्राकृत' का कदाचित् विशेष आदर था। संस्कृत के अंतिम महाकाव्य नैषध के लेखक श्रीहर्ष जयचंद के दरबार में ही राजकवि थे। कन्नौज के दरबार में भाषा साहित्य की चर्चा भी रही होगी किंतु प्राचीन कन्नौज नगर के पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने के कारण इस केंद्र की सामग्री अब बिलकुल भी उपलब्ध नहीं है। इन दो राज्यों के दक्षिण में महोबा का प्रसिद्ध राज्य था। महोबा के राजकवि जगनायक या

---

[1] ११०० ईसवी से पहले की हिंदीभाषा की प्रामाणिक सामग्री अभी उपलब्ध नहीं है। 'मिश्रबंधुविनोद' में दिये हुए ११०० ईसवी के पहले के कवियों के नाम वास्तव में नाम मात्र हैं। जब तक भाषा के कुछ प्रामाणिक नमूने न मिलें तब तक इन नामों का उल्लेख करना व्यर्थ है। १००० ई० के पहले तो हिंदीभाषा का अस्तित्व भी संदिग्ध है।

जगनिक का नाम तो आज तक प्रसिद्ध है किंतु इस महाकवि की मूल-कृति का अब पता नहीं चलता।

११६१ ई० तक मध्यदेश के ये तीनों अंतिम हिंदू राज्य मौजूद थे किंतु इस के बाद दस बारह वर्ष के अंदर ही ये तीनों राज्य नष्ट हो गए। ११६१ में मुहम्मद गोरी ने पानीपत के निकट पृथ्वीराज को हरा कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। अगले वर्ष इटावा के निकट जयचंद की हार हुई और कन्नौज से लेकर काशी तक का प्रदेश विदेशियों के हाथों में चला गया। शीघ्र ही महोबा पर भी मुसल्मानों ने क़ब्ज़ा कर लिया। इस तरह समस्त हिंदी प्रदेश पर विदेशी शासकों का आधिपत्य हो गया। विकसित होती हुई नवीन भाषा के लिए यह बड़ा भारी धक्का था जिस के प्रभाव से हिंदी अब तक भी मुक्त नहीं हो सकी है। हिंदीभाषा के इतिहास के संपूर्ण प्राचीन काल में मध्यदेश पर तथा उस के बाहर शेष उत्तरभारत पर भी तुर्की मुसलमानों का साम्राज्य क़ायम रहा (१२०६-१५२६ ई०) इन सम्राटों की मातृभाषा तुर्की थी तथा दरबार की भाषा फ़ारसी थी। इन विदेशी शासकों की रुचि जनता की भाषा तथा संस्कृति के अध्ययन करने की ओर बिलकुल भी न थी अतः तीन सौ वर्ष से अधिक इस साम्राज्य के क़ायम रहने पर भी दिल्ली के राजनीतिक केंद्र से हिंदी भाषा की उन्नति में बिलकुल ही सहायता नहीं मिल सकी। इस काल में दिल्ली में केवल अमीर ख़ुसरो ने मनोरंजन के लिए भाषा से कुछ प्रेम दिखलाया था। इस काल के अंतिम दिनों में पूर्वी हिंदुस्तान में धार्मिक आंदोलनों के कारण भाषा में कुछ काम हुआ किंतु इस का संबंध तत्कालीन राज्य से बिलकुल भी न था। राज्य की ओर से सहायता की अपेक्षा कदाचित् बाधा ही विशेष मिली। इस प्रकार के आंदोलनों में गोरखनाथ, रामानंद तथा उन के प्रमुख शिष्य कबीर के संप्रदाय उल्लेखनीय हैं।

हिंदी भाषा के इस प्राचीन काल की सामग्री नीचे लिखे भागों में विभक्त की जा सकती है :—

१—शिलालेख, ताम्रपत्र, तथा प्राचीन पत्र आदि,

२—अपभ्रंश काव्य,

३—चारण-काव्य जिन का आरंभ गंगा की घाटी में हुआ था, किंतु राजनीतिक उथल-पथल के कारण बाद को जो प्रायः राजस्थान में लिखे गए; तथा धार्मिक ग्रथ व अन्य काव्य-ग्रंथ।

विदेशी शासन होने के कारण इस काल में हिंदी भाषा में लिखे शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों आदि के अधिक संख्या में पाए जाने की संभावना बहुत कम है। इस संबंध में विशेष खोज भी नहीं की गई है, नहीं तो कुछ सामग्री अवश्य ही उपलब्ध होती [1]। हिंदी के सब से प्राचीन नमूने पृथ्वीराज तथा समरसिंह के दरबारों से संबंध रखनेवाले पत्रों के रूप में समझे जाते थे, जिन को नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया था, किंतु ये अप्रमाणिक सिद्ध हुए।

पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' भाग २, अंक ४ में पुरानी हिंदी' शीर्षक लेख में जो नमूने दिए हैं वे प्रायः गंगा की घाटी के बाहर के प्रदेशों में बने ग्रंथों के हैं, अतः इन में हिंदी के प्राचीन रूपों का कम पाया जाना स्वाभाविक है। अधिकांश उदाहरणों से प्राचीन राजस्थानी के नमूने मिलते हैं। इस के अतिरिक्त इन उदाहरणों की भाषा में अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक है कि इन

---

१ मध्यप्रांत के हिंदी शिलालेखों के संबंध में देखिए श्री हीरालाल का 'हिंदी के शिलालेख और ताम्रलेख' शीर्षक लेख (ना० प्र० प०, भा० ६, सं० ४)।

ग्रंथों को इस काल के अपभ्रंश साहित्य[1] के अंतर्गत रखना अधिक उचित मालूम होता है। पंडित रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास' में ऐसा किया भी है। तो भी इन नमूनों से अपनी भाषा की पुरानी परिस्थिति पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

इस काल की भाषा के नमूनों का तीसरा समूह चारण, धार्मिक तथा लौकिक काव्य-ग्रंथों में मिलता है। [2] भाषाशास्त्र की दृष्टि से इन

---

[1] इस प्रकार के प्रामाणिक ग्रंथों में हेमचंद्र-रचित 'कुमारपालचरित' तथा सिद्ध है मव्याकरण' सब से प्राचीन हैं। हेमचंद्र की मृत्यु ११७२ ई० में हुई थी अतः इन ग्रंथों का रचना-काल इस के पूर्व ठहरेगा। सोम-प्रभाचार्य का 'कुमारपाल-प्रतिबोध' ११८४ ई० में लिखा गया था। इस में कुछ सोमप्रभाचार्य के स्वरचित उदारण तथा कुछ प्राचीन उदाहरण मिलते हैं। जैन आचार्य मेरुतुंग ने 'प्रबंध-चिंतामणि' नाम का संस्कृत ग्रंथ १३०४ ई० में बनाया था। इस में कुछ प्राचीन पद्य उद्धृत मिलते हैं, जो अपभ्रंश और हिंदी की बीच की अवस्था के द्योतक हैं। 'शार्ङ्गधर पद्धति' शार्ङ्गधर कवि द्वारा संगृहीत सुभाषित-ग्रंथ है जिस में शावर मंत्र और चित्रकाव्य में कुछ भाषा के शब्द आए हैं। शार्ङ्गधर रण-थंभोर के महाराज हम्मीरदेव (मृत्यु १३०० ई०) के मुख्य सभासद राघवदेव का पोता था, अतः यह चौदहवीं सदी ईसवी के मध्य में हुआ होगा।

[2] इस प्रकार के मुख्य-मुख्य लेखकों तथा उन के प्रकाशित ग्रंथों की सूची निम्नलिखित है।

१—नरपति नाल्ह—'वीसलदेव रासो' (११५५ ई०)—जिन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर यह ग्रंथ छापा गया है वे १६१२ और १६०२ ईसवी की लिखी हैं। मूलग्रंथ के अजमेर में लिखे जाने के

ग्रंथ की भाषा के नमूने अत्यन्त संदिग्ध हैं। इन में से किसी भी ग्रंथ की इस काल की लिखी प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं है। बहुत दिनों मौखिक रूप में रहने के बाद लिखे जाने पर भाषा में परिवर्तन का हो जाना स्वाभाविक है, अतः हिंदी भाषा के इतिहास की दृष्टि

कारण इस की भाषा का राजस्थानी होना स्वाभाविक है। कहीं-कहीं कुछ खड़ीबोली के रूप भी पाए जाते हैं।

२. चंद 'पृथ्वीराज रासो'—चंद का कविता-काल ११६८ से ११९२ ई० तक माना जाता है। वर्तमान 'पृथ्वीराज रासो' में कितना अंश चंद का रचा है इस विषय में विद्वानों को बहुत संदेह है। वर्तमान रासो में अपभ्रंश, खड़ीबोली तथा राजस्थानी का मिश्रण दिखलाई पड़ता है।

३. ख़ुसरो : फुटकर काव्य—'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका,' भाग २, अंक ३ में 'ख़ुसरो की हिंदी कविता' शीर्षक से बाबू ब्रजरत्नदास ने ख़ुसरो की जीवनी तथा हिंदी काव्य-संग्रह दिया है। ख़ुसरो का समय १२५५-१३२५ ईसवी है। इनके सब प्रसिद्ध ग्रंथ फ़ारसी में हैं। इन की हिंदी कविता के नमूने का आधार एकमात्र जनश्रुति है। आधुनिक काल में लेखबद्ध किए जाने के कारण ख़ुसरो की हिंदी आधुनिक खड़ीबोली हो गई है। 'ख़ालिकवारी' नाम के अरबी-फ़ारसी-हिंदी कोष में कुछ अंश हिंदी में हैं, किंतु यह ग्रंथ भी अपूर्ण है।

४. गोरख-पंथ के संस्थापक गोरखनाथ के समय के संबंध में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार ये १३५० ई० के लगभग हुए थे। इनके कई ग्रंथ खोज में मिले हैं, किंतु प्रकाशित अभी तक कदाचित् एक ही ग्रंथ हुआ है। इनका लिखा एक ब्रजभाषा गद्य का ग्रंथ भी माना जाता है, इसीलिए ब्रजभाषा गद्य के प्रथम लेखक समझे जाते हैं, किंतु जब तक यह ग्रंथ तथा अन्य ग्रंथ सप्रमाण प्रकाशित न

से इन ग्रंथों के नमूने बहुत मान्य नहीं हो सकते। इस काल की भाषा के अध्ययन के लिए या तो पुराने लेखों से सहायता लेना उपयुक्त होगा या ऐसी हस्तलिखित प्रतियों से जो १५०० ईसवी से पहिले की लिखी हों।

ख. मध्यकाल (१५००-१८०० ई०)

१५०० ई० के बाद देश की परिस्थिति में एक बार फिर भारी परिवर्तन हुए। १५२६ ई० के लगभग शासन की बागडोर तुर्कों

हों तब तक निश्चित रूप से इन की भाषा के संबंध में कुछ भी कहना संभव नहीं है।

५. विद्यापति (जन्म १३६२ ई०) का भाषा-पदसमूह अभी कुछ ही समय पूर्व संग्रह किया गया है। इन पदों में मिथिला में संगृहीत पदों की भाषा मैथिली है तथा बंगाल में संगृहीत पदसमूह की भाषा बँगला है। इन के किसी भी वर्तमान संग्रह की भाषा पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ की नहीं मानी जा सकती। विद्यापति की 'कीर्तिलता' नाम के ग्रंथ की भाषा अपभ्रंश है। इन के अन्य ग्रंथ प्रायः संस्कृत में हैं।

६. कबीरदास (१४२३ ई०) तथा उन के गुरुभाई संतो की भाषा के संबंध में भी निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। साधारणतया संतो की वाणी मौखिक रूप में परंपरा से चली आई है, अतः उन की भाषा में नवीनता का प्रवेश होता रहना स्वाभाविक है। सभा की ओर से कबीर के ग्रंथों का जो संग्रह छपा है उस की प्रतिलिपि यद्यपि १५०४ ई० की लिखी हस्तलिखित प्रति के आधार पर तैयार की गई है, किंतु उस में पंजाबीपन इतना अधिक है कि उस के काशी में रहनेवाले कबीरदास की मूलवाणी होने में बहुत संदेह मालूम होता है।

सम्राटों के हाथ से निकल कर मुग़ल शासकों के हाथ में चली गई। बीच में कुछ दिनों तक सूरवंश के राजाओं ने भी राज्य किया। इस परिवर्तन काल में राजपूत राजाओं ने गङ्गा की घाटी पर अधिकार जमाना चाहा किंतु वे इस में सफल न हो सके। मुग़ल तथा सूरवंश के सम्राटों की सहानुभूति जनता की सभ्यता को समझने की ओर तुर्कों की अपेक्षा कुछ अधिक थी। देश में शांति रहने तथा राज्य की ओर से कम उपेक्षा होने के कारण इस काल में साहित्य-चर्चा भी विशेष हुई। वास्तव में यह काल हिंदी साहित्य का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है।

प्राचीन हिंदी के अवधी और ब्रजभाषा के दो मुख्य साहित्यिक रूपों का विकाश सोलहवीं सदी में ही प्रारंभ हुआ। इन दोनों में ब्रजभाषा तो समस्त हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई, किंतु अवधी में लिखे गए 'रामचरितमानस' का हिंदी जनता में सब से अधिक प्रचार होने पर भी साहित्य के क्षेत्र में अवधी भाषा का प्रचार नहीं हो सका। अवधी में लिखे गए ग्रंथों में दो मुख्य हैं—जायसी-कृत 'पद्मावत' (१५४०) जो शेरशाह सूर के शासन-काल में लिखा गया था और तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' (१५७५ ई०) जो अकबर के शासन-काल में लिखा गया था। इन दोनों ग्रंथों की बहुत-सी प्राचीन हस्त लिखित प्रतियाँ मिली हैं। यद्यपि इन दोनों ग्रंथों का शास्त्रीय रीति से संपादन अभी तक नहीं हो पाया है, किंतु तो भी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण बहुत अंश में मान्य हैं। सोलहवीं सदी के बाद अवधी में कोई भी प्रसिद्ध ग्रंथ नहीं लिखा गया।

वल्लभाचार्य के प्रोत्साहन से सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में साहित्य-रचना प्रारंभ हुई। हिंदी साहित्य की इस शाखा का केन्द्र पश्चिम मध्यदेश में अतः ब्रजभाषा साहित्य को धर्म के साथ-साथ विदेशी तथा देशी राज्यों की संरक्षता भी मिल सकी। सूरदास के ग्रंथ कदाचित् १५५० ई० तक रचे जा चुके किंतु 'सूरसागर' की १७४१ ई०

से पहिले की लिखी कोई हस्तलिखित प्रति अभी देखने में नहीं आई हैं अतः भाषा की दृष्टि से वर्तमान 'सूरसागर' में कहाँ तक सोलहवीं सदी की ब्रजभाषा है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास ने भी 'विनयपत्रिका' तथा 'गीतावली' आदि कुछ काव्यों में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। अष्टछाप-समुदाय के दूसरे महाकवि नंददास के ग्रंथ भी साहित्यिक ब्रजभाषा में हैं, किंतु इन का भी शुद्ध प्रामाणिक संस्करण अभी अप्राप्य है। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में प्रायः समस्त हिंदी साहित्य ब्रजभाषा में लिखा गया है। ब्रजभाषा का रूप दिन-दिन साहित्यिक, परिष्कृत तथा संस्कृत होता चला गया है। बिहारी और सूरदास की ब्रजभाषा में बहुत भेद है। बुंदेलखंड तथा राजस्थान के देशी राज्यों से संपर्क में आने के कारण इस काल के बहुत से कवियों की भाषा में जहाँ-तहाँ बुँदेली तथा राजस्थानी बोलियों का प्रभाव आ गया है। उदाहरण के लिए केशवदास (१६०० ई०) की ब्रजभाषा में बुँदेली प्रयोग बहुत मिलते हैं। यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि बिहारी की 'सतसई' तथा एक दो अन्य ग्रंथों को छोड़ कर किसी भी प्राचीन ग्रंथ का संपादन पूर्ण परिश्रम के साथ अभी तक नहीं हो पाया है। अतः भाषा की दृष्टि से प्रायः समस्त ब्रजभाषा ग्रंथ समूह संदिग्धावस्था में है। भाषा का अध्ययन बिना मान्य संस्करणों के नहीं हो सकता।

मध्यकाल तथा प्राचीन काल के ग्रंथों में जहाँ-तहाँ खड़ीबोली के रूप भी बिखरे पड़े हैं। रासो, कबीर, भूषण आदि में बराबर खड़ीबोली के प्रयोग वर्तमान हैं। इस से यह तो स्पष्ट ही है कि खड़ीबोली का अस्तित्व प्रारंभ से ही था, यद्यपि इस बोली का प्रयोग हिंदू कवि और लेखक साहित्य में विशेष नहीं करते थे। यह मुसल्मानी बोली समझी जाती थी क्योंकि दिल्ली-आगरे की तरफ़ मुसलमान जनता में तथा कुछ-कुछ मुसलमान लेखकों द्वारा लिखे गये साहित्य में इसका प्रयोग प्रच-

लित था। मुसलमानों द्वारा इस का साहित्य में प्रयोग अठारहवीं सदी के प्रारंभ से विशेष हुआ। इस से पहले मुसलमान कवि भी यदि भाषा में कविता करते थे तो अवधी या व्रजभाषा का व्यवहार करते थे। जायसी, रहीम आदि इस से स्पष्ट उदाहरण हैं। खड़ीबोली उर्दू के प्रथम प्रसिद्ध कवि हैदराबाद दक्खिन के वली माने जाते हैं। इन का कविता-काल अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पड़ता है। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में बहुत से मुसलमान कवियों ने काव्य-रचना कर के खड़ीबोली उर्दू के परिमार्जित साहित्यिक रूप दिया। इन कवियों में मीर, सौदा, इंशा, ग़ालिब, ज़ौक़ और दाग़ उल्लेखनीय हैं।

ग. आधुनिक काल (१८०० ई०—)

अठारहवीं सदी के अंत से ही परिवर्तन के लक्षण प्रारंभ हो गए थे। मुग़ल साम्राज्य के निर्बल हो जाने के कारण अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तीन बाहर की शक्तियों में हिंदी प्रवेश पर अधिकार करने की प्रतिद्वंद्विता हुई—ये थे मराठा, अफ़ग़ान और अंग्रेज़। १७६१ ई० में मध्यदेश की पश्चिमी सरहद पर पानीपत के तीसरे युद्ध में अफ़ग़ानों के हाथ से मराठों को ऐसा भारी धक्का पहुँचा कि वे फिर शक्ति-संचय नहीं कर सके। किंतु अफ़ग़ानों ने भी इस विजय से लाभ नहीं उठाया। तीन वर्ष बाद १७६४ ई० में हिंदी-प्रदेश की पूर्वी सीमा पर बक्सर के निकट अंग्रेज़ों तथा अवध और दिल्ली के मुसलमान शासकों के बीच युद्ध हुआ जिस के फल-स्वरूप अंग्रेज़ों के लिए गंगा की घाटी का पश्चिमी भाग खुल गया। १८०२ ई० के लगभग आगरा उपप्रांत अंग्रेज़ों के हाथ में चला गया तथा १८५६ ई० में अवध पर भी अंग्रेज़ों का पूर्ण अधिकार हो गया।

इन राजनीतिक परिवर्तनों के कारण १९ वीं सदी के आरंभ से ही मध्यदेश की भाषा हिंदी पर भारी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

अठारहवीं सदी में ब्रजभाषा की शक्ति क्षीण हो चुकी थी साथ ही मुसलमानों के बीच खड़ीबोली उर्दू ज़ोर पकड़ चुकी थी। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में अंग्रेजों ने हिंदुओं के लिये खड़ीबोली गद्य के संबंध में कुछ प्रयोग करवाए जिन के फलस्वरूप फ़ोर्ट विलियम कालेज में लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। प्रारंभ के इन खड़ीबोली के ग्रंथों पर ब्रजभाषा का प्रभाव रहना स्वाभाविक है। 'प्रेमसागर' में तो ब्रजभाषा के प्रयोग बहुत अधिक पाए जाते हैं। खड़ीबोली हिंदी का गद्य-साहित्य में प्रचार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ और इसका श्रेय साहित्य के क्षेत्र में भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा धर्म के क्षेत्र में स्वामी दयानंद को है। मुद्रण-कला के साथ-साथ खड़ीबोली हिंदी का प्रचार बहुत तेज़ी से बढ़ा। उन्नीसवीं सदी तक पद्य में प्राय: ब्रजभाषा का प्रयोग होता रहा, किंतु बीसवीं सदी में आते-आते खड़ीबोली हिंदी संपूर्ण मध्यदेश की, गद्य और पद्य दोनों ही की, एक मात्र साहित्यिक भाषा हो गई है। ब्रजभाषा में कविता करने की शैली अभी तक पूर्ण रूप से गुप्त नहीं हुई है, किंतु इस के दिन इने-गिने हैं। यहां यह स्मरण दिलाना अनुपयुक्त न होगा कि बीसवीं सदी की साहित्यिक ब्रजभाषा का आधार मध्यकाल के उत्तरार्द्ध की साहित्यिक ब्रजभाषा है, न कि आजकल की ब्रज-प्रदेश की वास्तविक बोली। खड़ीबोली-पद्य के प्रारंभ के कवियों की भाषा में भी लल्लूलाल आदि प्रथम गद्य-लेखकों के समान ब्रजभाषा की झलक पर्याप्त है। श्रीधर पाठक की खड़ीबोली कविता की मिठास का कारण बहुत कुछ ब्रजभाषा के रूपों का व्यवहार है, यह परिवर्तन काल शीघ्र ही दूर हो गया और अब तो खड़ीबोली कविता की भाषा से भी ब्रजभाषा की छाप लगभग बिल्कुल हट गई है। गत डेढ़ दो सौ वर्षों से साहित्यिक खड़ीबोली—आधुनिक—हिंदी और उर्दू—मेरठ-बिजनौर की जनता खड़ीबोली से स्वतंत्र हो कर अपने-अपने ढंग से विकास को प्राप्त कर रही है। स्वाभाविक बोली के प्रभाव से

पृथक् हो जाने के कारण इस के व्याकरण का ढाँचा तथा शब्दसमूह निराला होता जाता है। तो भी अभी तक आधुनिक हिंदी-उर्दू के व्याकरण का स्वरूप मेरठ-बिजनौर की खड़ीबोली से बहुत अधिक भिन्न नहीं हो पाया है। भेद की अपेक्षा साम्य की मात्रा विशेष है।

साहित्य के क्षेत्र में खड़ीबोली हिंदी के व्यापक प्रभाव के रहते हुए भी हिंदी की अन्य प्रादेशिक बोलियां अपने-अपने प्रदेशों में आज भी पूर्ण-रूप से जीवितावस्था में हैं। मध्यदेश के गाँवों की समस्त जनता अब भी खड़बोली के अतिरिक्त ब्रज, अवधी, बुँदेली, छत्तीसगढ़ी आदि बोलियों के आधुनिक रूपों का व्यवहार कर रही है। गाँव के अपढ़ लोग बोलचाल की आधुनिक साहित्यिक हिंदी को समझ बराबर लेते हैं किंतु ठीक-ठीक बोल नहीं पाते। गाँव की बोलियों में भी धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है। जायसी की अवधी तथा आजकल की अवधी में पर्याप्त भेद हो गया है। इसी तरह सूरदास की ब्रजभाषा से आजकल की ब्रज बोली कुछ भिन्न हो गई है। इन परिवर्तनों को प्रारंभ हुए सौ सवा सौ वर्ष अवश्य बीत चुके हैं, इसी लिए लगभग १८०० ई० से हिंदी भाषा के इतिहास के तीसरे काल का प्रारंभ माना जा सकता है यद्यपि अभी भेदों की मात्रा अधिक नहीं हो पाई है किंतु संभावना यही है कि ये भेद बढ़ते ही जावेंगे और सौ दो सौ वर्ष के अंदर ही ऐसी परिस्थिति आ सकती है जब तुलसी, सूर आदि की भाषा को स्वाभाविक ढंग से समझ लेना अवध और ब्रज के लोगों के लिए कठिन हो जावेगा। इस प्रगति का प्रारंभ हो गया है।

---

७. देवनागरी लिपि और अंक

यद्यपि हिंदी प्रदेश में उर्दू, रोमन, कैथी, मुड़िया, मैथिली, आदि अनेक लिपियों का थोड़ा बहुत व्यवहार है किंतु देवनागरी लिपि का स्थान इन में सर्वोपरि है। लिखने के अतिरिक्त छपाई में तो प्राय: एकमात्र इसी का व्यवहार होता है। यदि देवनागरी लिपि की प्रतिद्वंद्विता किसी से है तो उर्दू लिपि से है। भारतवर्ष के अधिकांश पढ़े-लिखे मुसलमानों तथा पंजाब और आगरा दिल्ली की तरफ़ के हिंदुओं में उर्दू लिपि का व्यवहार पाया जाता है किंतु देवनागरी लिपि की लोकप्रियता उर्दू लिपि को भी नहीं प्राप्त है। देवनागरी लिपि का प्रचार समस्त हिंदी प्रदेश में तथा उस के बाहर महाराष्ट्र में है ऐतिहासिक दृष्टि से देवनागरी का अंतिम संबंध भारत की प्राचीनतम राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी से है। ब्राह्मी और देव नागरी का संबंध समझने के लिए भारतीय लिपियों के संबंध में विशेषज्ञों[1] ने जो खोज की है उस का सार नीचे दिया जाता है।

प्राचीन वैदिक तथा बौद्ध साहित्य के बाह्यरूप तथा उस में पाए जानेवाले उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि भारत में लेखन-कला का प्रचार छठी शताब्दी पूर्व ईसा से बहुत पहले मौजूद था। ऐसी अवस्था में कुछ यूरोपीय विद्वानों का यह मत बहुत सारयुक्त नहीं मालूम होता कि भारतीय लोगों ने चौथी, आठवीं या दसवीं शताब्दी पूर्व ईसा में किन्हीं विदेशियों

---

[1] ओझा, भा० प्रा० लि० प्रथम संस्कार १६१८; बूहलर 'आन दि ओरिजिन आव दि इंडियन ब्रह्म अलफ़ाबेट' प्रथम संस्करण, १८६५; द्वितीय संस्करण, १८६८

से लिखने की कला सीखी । जो हो भारतवर्ष में लिखने के प्रचार की प्राचीनता तथा उस का उद्गम हमारे प्रस्तुत विषय से विशेष संबंध नहीं रखता अतः इसका विस्तृत विवेचन यहां अनावश्यक है।

प्राचीन काल में भारत में ब्राह्मी (पाली बंभी) और खरोष्ठी नाम की दो लिपियां प्रचलित थीं। इन में से ब्राह्मी एक प्रकार से राष्ट्रीय लिपि थी, क्योंकि इस का प्रचार पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़ कर शेष समस्त भारत में था। देवनागरी आदि आधुनिक भारतीय लिपियों की तरह यह भी बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश में खरोष्ठी[1] लिपि का प्रचार था और यह आधुनिक विदेशी उर्दू लिपि की तरह दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी। यह निश्चित है कि खरोष्ठी लिपि आर्य-लिपि नहीं है बल्कि इस का संबंध विदेशी सेमिटिक अरमइक् लिपि से है। खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में ओझा[2] लिखते हैं कि "जैसे मुसल्मानों के राज्य समय में ईरान की फ़ारसी लिपि का हिंदुस्तान में प्रवेश हुआ और उस में कुछ अक्षर और मिलाने से हिंदी भाषा के मामूली पढ़े-लिखे लोगों के लिए काम चलाऊ उर्दू लिपि बनी वैसे ही जब ईरानियों का अधिकार पंजाब के कुछ अंश पर हुआ तब उनकी राजकीय लिपि अरमइक का वहां प्रवेश हुआ, परंतु उस में केवल २२ अक्षर, जो आर्य-भाषाओं के केवल १८ उच्चारणों को व्यक्त कर सकते थे, होने तथा स्वरों में ह्रस्व-दीर्घ का भेद और स्वरों की मात्राओं के न होने के कारण यहां के विद्वानों में से खरोष्ठ या किसी और ने नए अक्षरों तथा ह्रस्व स्वरों की मात्राओं की योजना कर मामूली पढ़े हुए लोगों के लिए, जिन को शुद्धाशुद्ध की विशेष आवश्यकता नहीं रहती थी, काम चलाऊ लिपि बना दी।"

---

[1] खरोष्ठी का शब्दार्थ 'गधे के होठ वाली' है।

[2] ओझा, भा० प्रा० लि०, पृ० १७

इस लिपि का प्रचार भारत के पश्चिमोत्तरी प्रदेश के आसपास तीसरी शताब्दी पूर्व-ईसा से तीसरी शताब्दी ईस्वी तक रहा।

तीसरी शताब्दी ईसवी के बाद इस प्रदेश में भी ब्राह्मी के विकसित रूप व्यवहृत होने लगे। उर्दू लिपि का विकास खरोष्ठ से नहीं हुआ है। उर्दू और खरोष्ठी का मूल तो एक ही है किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू लिपि मुसलमानों के भारत में आने पर उन की फ़ारसी अरबी लिपि के आधार पर कुछ अक्षरों को जोड़ कर बनाई गई थी।

मध्य तथा आधुनिक कालों की समस्त भारतीय लिपियों का उद्गम प्राचीन राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी से हुआ है इस संबंध में कोई भी मतभेद नहीं है किंतु स्वयं ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में दो मुख्य मत हैं। बूलहर तथा वेबर आदि विद्वानों का एक समूह ब्राह्मी का संबंध पश्चिम एशिया की किसी न किसी विदेशी लिपि से जोड़ता है। इन विद्वानों में इस विषय के विशेषज्ञ बूहलर ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि ब्राह्मी लिपि के २२ अक्षर उत्तरी सेमिटिक लिपियों से लिये गए हैं और बाक़ी अक्षर उन्हीं के आधार पर बनाए गए हैं। कनिंघम तथा ओझा आदि विद्वानों का दूसरा समूह ब्राह्मी की उत्पत्ति विदेशी लिपियों से नहीं मानता। ब्राह्मी की उत्पत्ति के संबंध में ओझा, [1]का कहना है कि "यह भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग-सुन्दरता से चाहे इस का कर्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इस का नाम ब्राह्मी पड़ा, चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो, पर इस में संदेह नहीं कि इस का फ़िनीशिअन से कुछ भी संबंध नहीं।" ब्राह्मी लिपि का उद्गम चाहे जो हो किंतु इतना निश्चित है कि मौर्यकाल में इस का प्रचार समस्त भारत में था। ब्राह्मी लिपि में लिखे

---

[1]ओझा, भा० प्रा० लि० पृ० २८

गए सब से प्राचीन लेख पाँचवीं शताब्दी पूर्व-ईसवी काल तक के पाए गए हैं। अशोक के प्रसिद्ध शिलालेखों तथा अन्य प्राचीन लेखों की लिपि ब्राह्मी ही है।

ब्राह्मी लिपि का प्रचार भारत में लगभग ३५० ईसवी तक रहा। इस समय तक उत्तर और दक्षिण की ब्राह्मी लिपि में पर्याप्त अंतर हो गया था। तामिल, तेलगू, ग्रंथ आदि दक्षिण भारत की समस्त आधुनिक तथा मध्य-कालीन लिपियों का संबंध ब्राह्मी की दक्षिण शैली से है। चौथी शताब्दी के लगभग उत्तर की प्रचलित शैली का कल्पित नाम गुप्तलिपि रक्खा गया है। गुप्त साम्राज्य के प्रभाव के कारण इस का प्रचार चौथी और पाँचवीं शताब्दी में समस्त उत्तर-भारत में था। इसके उदाहरण गुप्तकालीन शिलालेखों तथा ताम्रपत्रादि में मिलते हैं। 'गुप्तों के समय में कई अक्षरों की आकृतियां नागरी से कुछ-कुछ मिलती हुई होने लगीं। सिरों के चिन्ह जो पहले बहुत छोटे थे बढ़ कर कुछ लंबे बनने लगे और स्वरों की मात्राओं के प्राचीन चिन्ह लुप्त होकर नए रूपों में परिणत हो गए।[1]'

गुप्तलिपि के विकसित रूप का कल्पित नाम 'कुटिल लिपि' रक्खा गया है। इस का प्रचार छठीं से नवीं शताब्दी ईसवी तक उत्तर-भारत में रहा। 'कुटिलाक्षर' नाम का प्रयोग प्राचीन है। अक्षरों तथा स्वरों की कुटिल आकृतियों के कारण ही यह लिपि कुटिल कहलाई जाने लगी। इस काल के शिलालेख तथा दानपत्र आदि इसी लिपि में लिखे पाए जाते हैं। कुटिल लिपि से ही नागरी तथा काश्मीर की प्राचीन लिपि शारदा विकसित हुई। शारदा से वर्तमान काश्मीरी, टाकरी तथा गुरुमुखी लिपियां निकली हैं। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग प्राचीन बँगला लिपि निकली जिस के आधुनिक

---

[1] ओझा, भा० प्रा० लि०, पृ० ६०

परिवर्तित रूप बँगला, मैथिली उड़िया तथा नेपाली लिपियों के रूप में प्रचलित हैं प्राचीन नागरी से ही गुजराती, कैथी तथा महाजनी आदि उत्तर-भारत की अन्य लिपियां भी संबद्ध हैं।

नागरी[1] लिपि का प्रयोग उत्तर-भारत में दसवीं शताब्दी के प्रारंभ से मिलता है किंतु दक्षिण-भारत में कुछ लेख आठवीं शताब्दी तक के पाए जाते हैं। दक्षिण की नागरी लिपि 'नंदि नागरी' नाम से प्रसिद्ध है और अब तक दक्षिण में संस्कृत पुस्तकों के लिखने में उस का प्रचार है। राजस्थान, संयुक्तप्रांत, बिहार, मध्यभारत, तथा मध्यप्रांत में इस काल के लिखे प्रायः समस्त शिलालेख, ताम्रपत्र आदि में नागरी लिपि ही पाई जाती है। "ई० स० की १० वीं शताब्दी की उत्तरी भारतवर्ष की नागरी लिपि में कुटिल लिपि की नाई, अ, आ, घ, प, म, य, ष और स के सिर दो अंशों में विभक्त मिलते हैं, परंतु ११ वीं शताब्दी से ये दोनों अंश मिलकर सिर की एक लकीर बन जाती है और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लंबा रहता है जितनी कि अक्षर की चौड़ाई होती है। ११ वीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती-जुलती

---

[1] 'नागरी' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान् इस का संबंध 'नागर' ब्राह्मणों से लगाते हैं अर्थात् नागर ब्राह्मणों में प्रचलित लिपि नागरी कहलाई, कुछ 'नगर' शब्द से संबंध जोड़ कर इस का अर्थ नागरी अर्थात् नगरों में प्रचलित लिपि लगाते हैं। एक मत यह भी है कि तांत्रिक यंत्रों में कुछ चिन्ह बनते थे जो 'देवनगर' कहलाते थे, इन अक्षरों से मिलते-जुलते होने के कारण यही नाम इस लिपि के साथ संबद्ध हो गया। तांत्रिक समय में 'नागर लिपि' नाम प्रचलित था (ओझा, 'प्राचीन लिपिमाला' पृ० १८)। इस लिपि के लिए देवनागरी या नागरी नाम पड़ने का कारण वास्तव में अनिश्चित है।

है और १२ वीं शताब्दी से वर्तमान नागरी बन गई है..... ई० स० की १० वीं शताब्दी से लगा कर अब तक नागरी लिपि बहुधा एक ही रूप में चली आती है।"[१] इस तरह आधुनिक देवनागरी लिपि दसवीं शताब्दी ईसवी की प्राचीन नागरी लिपि का ही विकसित रूप है।

जिस प्रकार वर्तमान देवनागरी लिपि ब्राह्मी लिपि का परिवर्तित रूप है उसी प्रकार वर्तमान नागरी अंक भी प्राचीन ब्राह्मी अंकों के परिवर्तन से बने हैं। "लिपियों की तरह प्राचीन और अर्वाचीन अंकों में भी अंतर है। यह अंतर केवल उन की आकृति में ही नहीं किंतु अंकों के लिखने की रीति में भी है। वर्तमान समय में जैसे १ से ६ तक अंक और शून्य इन १० चिन्हों से अंकविद्या का संपूर्ण व्यवहार चलता है वैसे प्राचीन काल में नहीं था। उस समय शून्य का व्यवहार ही न था और दहाइयों, सैकड़े, हजार आदि के लिए भी अलग चिन्ह थे।"[२] अंकों के संबंध में इन दो शैलियों को 'प्राचीन शैली' और 'नवीन शैली' कहते हैं।

भारतवर्ष में अंकों की यह प्राचीन शैली कब से प्रचलित हुई इस का ठीक पता नहीं चलता। अशोक के लेखों में पहले-पहल कुछ अंकों के चिन्ह मिलते हैं। प्राचीन शैली के अंकों की उत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अनेक कल्पनाएं की हैं। इस संबंध में ओझा ने बूहलर का नीचे लिखा मत उद्धृत किया है जो ध्यान देने योग्य है—"प्रिन्सेप का यह पुराना कथन कि अंक उन के सूचक शब्दों के प्रथम अक्षर हैं, छोड़ देना चाहिए। परंतु अब तक इस प्रश्न का संतोष-दायक समाधान नहीं हुआ। पंडित भगवानलाल ने आर्यभट्ट और मंत्र-शास्त्र की अक्षरों द्वारा अंक सूचित करने की रीति को भी जाँचा

---

[१] ओझा, भा० प्र० लि०, पृ० ६६-७०

[२] वही, पृ० १०३

परंतु उस में सफलता न हुई अर्थात् अक्षरों के क्रम की कोई कुंजी न मिली और न मैं इस रहस्य की कोई कुंजी प्राप्त करने का दावा करता हूँ। मैं केवल यही बतलाऊँगा कि इन अंकों में अनुनासिक, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का होना प्रकट करता है कि उन (अंकों) को ब्राह्मणों ने निर्माण किया था न कि वणिओं (महाजनों) ने और न बौद्धों ने जो प्राकृत को काम में लाते थे।" कुछ विद्वानों के इस मत को कि भारतीय मूल अंक विदेशी अंकों से प्रभावित हैं ओझा आदि विद्वानों का समूह नहीं मानता। ओझा के अनुसार "प्राचीन शैली के भारतीय अंक भारतीय आर्यों के स्वतंत्र निर्माण किए हुए हैं।"[२]

नवीन शैली के अंकक्रम का प्रांचवीं शताब्दी के लगभग से सर्वसाधारण में था, यद्यपि शिलालेख आदि में प्राचीन शैली का ही प्रायः उपयोग किया जाता था। नवीन शैली की उत्पत्ति के संबंध में ओझा का मत है कि "शून्य की योजना कर नव अंकों से गणित-शास्त्र को सरल करनेवाले नवीन शैली के अंकों का प्रचार पहले-पहल किस विद्वान ने किया इस का कुछ भी पता नहीं चलता। केवल यही पाया जाता है कि नवीन शैली के अंकों की सृष्टि भारतवर्ष में हुई, फिर यहां से अरबों ने यह क्रम सीखा और अरबों से उस का पवेश यूरोप में हुआ।"[३]

भाषा और दो भिन्न वस्तुएं होते हुए भी व्यवहार में ये अभिन्न रहती हैं। इसी कारण संक्षेप में हिंदी भाषा की देवनागरी लिपि और हिंदी अंकों के विकास का दिग्दर्शन यहां कर देना उचित समझा गया। लिपि तथा अंक के चिन्हों के इतिहास के संबंध में विस्तृत सामग्री ओझा-लिखित 'प्राचीन लिपिमाला' में संकलित है।

---

[१] ओझा, भा० प्रा० लि०, पृ० ११०

[२] वही पृ० ११४

[३] वही, पृ० ११७